मीडिया में हिस्सेदारी

Pramod Ranjan, Mansuri Firoz, Yadav Santosh, Prasad Gajendra, Priyamvad Pranay, Yadav Ashok, Arvind Arvind

▶ To cite this version:

Pramod Ranjan, Mansuri Firoz, Yadav Santosh, Prasad Gajendra, Priyamvad Pranay, et al.. मीडिया में हिस्सेदारी. 2009, ⟨10.17613/7bf4-3p41⟩. ⟨hal-03941066⟩

HAL Id: hal-03941066
https://hal.science/hal-03941066

Submitted on 16 Jan 2023

HAL is a multi-disciplinary open access archive for the deposit and dissemination of scientific research documents, whether they are published or not. The documents may come from teaching and research institutions in France or abroad, or from public or private research centers.

L'archive ouverte pluridisciplinaire **HAL**, est destinée au dépôt et à la diffusion de documents scientifiques de niveau recherche, publiés ou non, émanant des établissements d'enseignement et de recherche français ou étrangers, des laboratoires publics ou privés.

Distributed under a Creative Commons Attribution - NonCommercial 4.0 International License

मीडिया में हिस्सेदारी

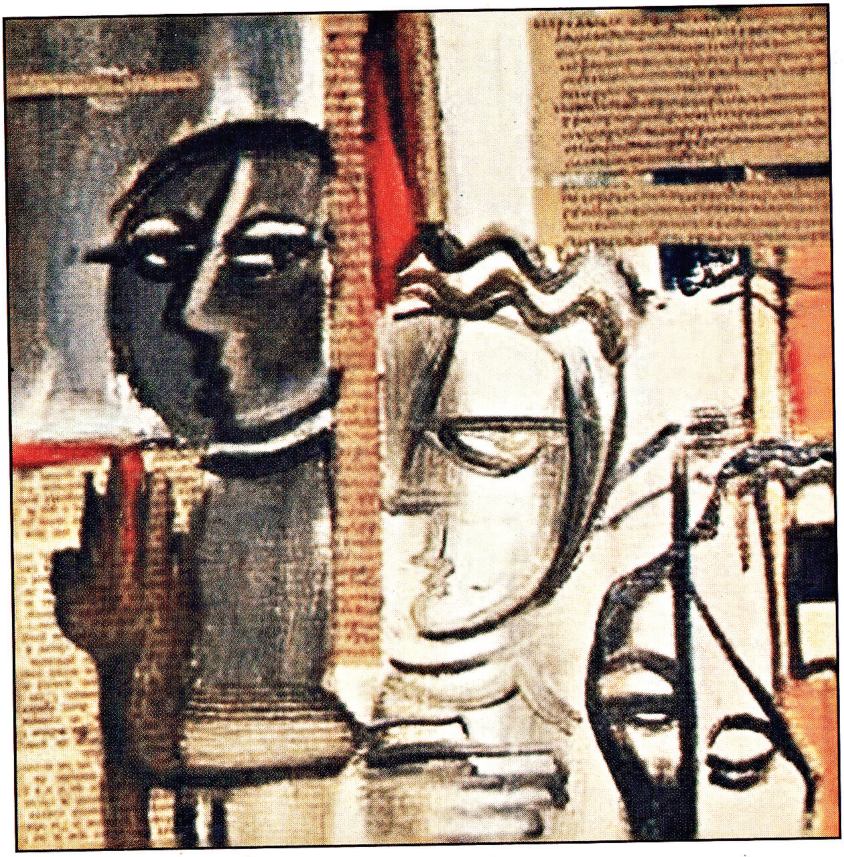

प्रमोद रंजन

मीडिया में हिस्सेदारी

62वें स्वतंत्रता दिवस
15 अगस्त, 2009 को प्रकाशित

प्रमोद रंजन

सहयोग

फिरोज मंसूरी, अशोक यादव, अरविंद, प्रणय, ई. संतोष यादव, गजेंद्र प्रसाद व श्रमण चेतना केंद्र, पटना के साथी

प्रज्ञा सामाजिक शोध संस्थान

कुम्हरार, पो : बहादुरपुर, पटना-800026

mail :pramodrnjn@gmail.com

मुद्रक : हमारा प्रेस, डोरंडा, रांची

पिछली सीटों पर हिस्सेदारी

(बिहार के मीडिया संस्थानों की सामाजिक पृष्ठभूमि का सर्वेक्षण)

आप भी इतने दुर्भाग्यशाली हो सकते हैं कि घोषित शांति में एक आवाजविहीन युद्ध से जा टकराएं. मुश्किल यह है कि एक बार आप इसे देख लेते हैं तो इसे अनदेखा नहीं कर सकते. और एक बार आपने इसे देख लिया, तो चुप रहना, कुछ न कहना उतना ही राजनीतिक कदम हो जाता है, जितना कि बोलना.

-अरुंधति राय

सार्वजनिक महत्व की किसी संस्था का सामाजिक अध्ययन अकादमिक किस्म का काम है. लेकिन पूर्वग्रहों से भरे समाज में आप इसकी शुरुआत की मानसिक प्रक्रिया के दौरान ही एक आवाजविहीन युद्ध से जा टकराते हैं. आगे बढ़ने के साथ हर कदम राजनीतिक होता जाता है. अब आप बोलें, चाहे चुप रहें, राजनीति से बच नहीं सकते. बिहार में कार्यरत मीडिया संस्थानों की सामाजिक पृष्ठभूमि का सर्वे भी ऐसा ही एक काम है.

आपने अगर इसके नतीजों को देख लिया है तो इस तथ्य को कैसे अनदेखा कर सकते हैं कि इस विशालकाय राज्य के हिंदी-अंग्रेजी मीडिया संस्थानों

में 'फैसला लेने वाले पदों' पर न कोई आदिवासी है, न दलित, न पिछड़ा, न ही कोई महिला. (देखें-कुछ मीडिया संस्थानों की नमूना तालिकाएं, पृष्ठ-31से पृष्ठ-34)

सबके सब..

कुछ कागजी अपवादों को छोड़ दें तो एक लाख वर्ग किलोमीटर में गंगा, फल्गु, सोन, कोसी, गंडक, बागमती, कमला, महानंदा, कर्मनाशा आदि नदियों के बीच फैली 9 करोड़ से अधिक की विशाल आबादी की सामाजिक, सांस्कृतिक विविधता का कोई संकेत यहां मौजूद नहीं है. सब के सब हिंदू, **सबके सब द्विज और सबके सब पुरुष!**

लगभग तीन साल पहले दिल्ली के *मीडिया स्टडीज ग्रुप* ने हिंदी-अंग्रेजी **राष्ट्रीय मीडिया** के प्रमुख पदों पर कार्यरत लोगों की सामाजिक पृष्ठभूमि का सर्वे किया था. दिल्ली स्थित *37* मीडिया संस्थानों पर किये गये उस सर्वे में हर संस्थान के 10 सर्वोच्च पदों पर काबिज अधिकारियों की सामाजिक पृष्ठभूमि के बारे में जानकारी हासिल की गयी थी. *राष्ट्रीय मीडिया* में 'फैसला लेने वाले' पदों पर उच्च जाति हिंदू पुरुषों का हिस्सा 71 फीसदी था. पिछड़े 4 फीसदी थे. उच्च जाति हिंदू महिलाओं की मौजूदगी 17 प्रतिशत थी. दलित और आदिवासी की संख्या शून्य थी (देंखें, पृष्ठ 35 पर राष्ट्रीय मीडिया का सर्वे).

बिहार के मीडिया संस्थानों के सर्वे के लिए शुरू में हमने भी यही तकनीक अपनानी चाही, जिसके उपरोक्त किंकर्तव्यविमूढ़ कर देने वाले परिणाम सामने आए.

राष्ट्रीय मीडिया के सर्वे में जिन 37 संस्थानों को शामिल किया गया था, उनमें से अधिकांश का मुख्यालय दिल्ली में ही होने के कारण 'बड़े' पदों की संख्या पर्याप्त थी. इसलिए सर्वोच्च 10 पदों को चुनना संभव था. पटना के मीडिया संस्थानों में यह सुविधा न थी.

पटना के मीडिया संस्थानों में हमने 5 पदों -1. संपादक 2. समाचार संपादक 3. ब्यूरो चीफ 4. मुख्य/विशेष संवाददाता और 5. प्रोविंस डेस्क इंचार्ज - को 'फैसला लेने वाले' के रूप में चिन्हित किया.

पटना के अनेक मीडिया संस्थानों में उपरोक्त सभी *5* पद भी नहीं हैं. कई अखबारों, समाचार एजेंसियों और इलैक्ट्रॉनिक चैनलों में कार्यरत पत्रकारों की संख्या बहुत कम है तथा यहां कार्यरत कई राष्ट्रीय मीडिया संस्थानों के ब्यूरो कार्यालयों में तो अकेले (ब्यूरो) 'चीफ' का ही पद है. ऐसी स्थिति में इन पदों के समकक्ष कार्य कर रहे लोगों को भी 'फैसला लेने वाला' माना गया. ऐसे पत्रकारों की संख्या किसी संस्थान में 5, कहीं *3*, कहीं 2 है तो कहीं अकेले 'ब्यूरो चीफ' ही 'फैसला' लेते हैं. इसके तहत 42 मीडिया संस्थानों के राज्यस्तरीय सर्वोच्च पदों पर कार्यरत 78 पत्रकारों की सामाजिक पृष्ठभूमि जांची गयी. इनमें हिंदी-अंग्रेजी प्रिंट (उर्दू नहीं),

इलैक्ट्रॉनिक मीडिया संस्थान, समाचार एजेंसियां व पत्रिकाएं शामिल थीं.

शुरुआत के शुरू में

सर्वे का विचार वस्तुतः अगस्त, 2008 में कोसी नदी में आयी प्रलंयकारी बाढ़ के बाद आया था. बाढ़ में हजारों लोग मारे गये थे. जिस इलाके में बाढ़ आयी थी, वह यादव और दलित बहुल था. जबकि राज्य में एक ऐसी सरकार थी, जो लोकतंत्र के पिछले पंचबरसा त्योहार में यादव राज खत्म कर चुकने की दुदुंभी बजाती फिर रही थी. इस नयी सरकार के एक घटक (जदयू) का मुख्य वोट बैंक भूमिहार, कुरमी-कोईरी और अत्यंत पिछड़ी जातियां हैं. जबकि दूसरे घटक (भाजपा) का वोट बैंक वैश्यों तथा अन्य सवर्ण जातियों में है. सामंती संस्कार वाली यह सरकार बाढ़ की तबाही के बाद लगभग दो महीने तक पीड़ितों को राहत पहुंचाने में बेहद क्रूर कोताही बरतती रही. इस मामले पर पक्ष और विपक्ष – दोनों की राजनीति अत्यंत निचले किस्म की जाति-आधारित थी. इसके बावजूद बिहार की पत्रकारिता न सिर्फ इस घटिया राजनीति पर मौन थी बल्कि उसमें बाढ़ की विभीषिका को कम से कम कर दिखाने और राज्य सरकार के राहत कार्यों को बढ़ा-चढा कर पेश करने की होड़ लगी थी.

पत्रकारिता के इस जघन्य दुष्कर्म ने आरंभ में हमें पटना में कार्यरत पत्रकारों की भौगोलिक पृष्ठभूमि के सर्वेक्षण के लिए प्रेरित किया. हमारे सामने एक ख्याल था कि क्या राजधानी पटना में कार्यरत पत्रकारों में बहुत कम संख्या कोसी के बाढ़ग्रस्त जिलों के वासियों की है? क्या इसलिए वे अपनी पेशागत जरूरतों के विपरीत बाढ़-पीड़ितों के प्रति इतने कम संवेदनशील हैं? काम शुरू हुआ. हम इसे बेहद आसान समझ रहे थे. हमारी सोच थी कि इसे दो-तीन मित्र मिलकर आसानी से निपटा लेंगे. लेकिन जिस भूखंड में आदमी की मुख्य पहचान जाति हो, वहां क्या शिक्षा और क्या भूगोल; सब द्वितीयक किस्म के परिचय हैं. हम किसी एक पत्रकार से दूसरे पत्रकार का गृह जिला पूछते तो कोई उसे *भोजपुर* का बताता तो कोई *दरभंगा* का. किसी तीसरे से इनमें से सही को चिन्हित करने के लिए जानकारी लेते तो वह उसे *नालंदा* का निवासी बता देता. पर तीनों, उसकी जो जाति खुद बिना पूछे बता डालते वह सभी मामलों में समान रहती. कुछ मामलों में तो ऐसा हुआ कि हमने किसी पत्रकार मित्र से पूछा कि *फलां अखबार का प्रोविंस डेस्क कौन देखता है?* उत्तर मिला- *'जानता हूं, पर नाम याद नहीं आ रहा. वह जो गोरा-गोरा सा है, बाल थोड़े-थोड़े पके हैं. राजपूत है. अलां पार्टी के फलां सिंह का नजदीकी है.'* इस तरह के इन उत्तरों से पत्रकारों की भौगोलिक पृष्ठभूमि की जानकारी तो क्या मिलती! जब नाम पूछने पर उत्तर में उनकी जाति सामने आती हो और बोनस के तौर पर उनकी किसी खास नेता से नजदीकी की सूचना..

इसी परिदृश्य में हमने जून, 2009 में इस सर्वे को विस्तृत करने का फैसला किया. बकायदा सभी मीडिया संस्थानों के *'राज्य स्तर पर फैसला लेने वाले'* पत्रकारों की सूची तैयार की गयी. उनके नाम, गृह जिला, शिक्षा, धर्म और जाति के कॉलमों को विभिन्न श्रोतों से जानकारी लेकर भरने का काम शुरू किया गया. इसमें **हिंदी और अंग्रेजी** के *45* संस्थानों के पत्रकारों को रखा गया, जिनमें से *42* संस्थानों के पत्रकारों के धर्म, जाति, लिंग की जानकारी हम जमा कर पाये. गृह जिला से संबंधित सूचनाएं भी कमोवेश जमा हो गयी हैं लेकिन शिक्षा संबंधी कॉलमों को *5* फीसदी भरने में भी हम सफल नहीं हो सके हैं. यह सोचना भी कितना शर्मनाक है कि हम एक ऐसे समाज में रहते हैं जहां का बौद्धिक तबका अपने साथियों की पहचान उनकी शिक्षा या अन्य व्यक्तिगत गुणों-अवगुणों के आधार पर नहीं, जाति के आधार पर करता है.

इस सर्वेक्षण में **'फैसला लेने वालों'** की जातिगत पृष्ठभूमि के जो नतीजे आये, उनका जिक्र पहले हो चुका है. भौगोलिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के सर्वे के नतीजे अलग से जारी किये जाएंगे.

उपस्थिति की तलाश

'फैसला लेने वाले पदों' पर वंचित तबके के लोग नहीं हैं. लेकिन ऐसा नहीं है कि बिहार की पत्रकारिता में इनकी उपस्थिति शून्य है. भले ही वे कक्षा के दलपति न बन सके हों लेकिन कहीं-कहीं पिछली बेंचों पर तो दिखते ही हैं. इनमें से कई ने अंगूठा भी गंवाया है लेकिन इन एकलव्यों की धनुर्धरता पर संदेह की हिमाकत द्रोणों ने भी नहीं की है.

बिहारी पत्रकारिता में इन तबकों की ***उपस्थिति*** (फैसला लेने वाले पदों के अतिरिक्त) जांचने के लिए हमने कुछ और विस्तृत सर्वेक्षण आरंभ किया. इस बार हिंदी-अंग्रेजी के 42 संस्थानों के अलावा पटना से प्रकाशित **उर्दू के 5 अखबारों** को भी इसमें शामिल किया गया. **कुल 47 मीडिया संस्थानों के 230 पत्रकारों** को सर्वे में समेटते हुए हमने पाया कि *73* फीसदी पदों पर ऊंची जाति के हिंदुओं (ब्राह्मण, भूमिहार, राजपूत, कायस्थ) का कब्जा है. अन्य पिछड़ा वर्ग के हिंदू *10* फीसदी, अशराफ मुसलमान 12 फीसदी तथा पसमांदा मुसलमान 4 फीसदी हैं. महिलाओं की उपस्थिति लगभग 4 फीसदी रही. **पटना के मीडिया संस्थानों में महज 3 दलित पत्रकार मिले (तालिका-1, पृष्ठ-5).** *फैसला लेने वाले* पदों पर शोषित जातियों की शून्य नुमाइंदगी के कारण पिछली सीटों की उपस्थिति कभी-कभार इनके 'प्रतिनिधित्व' का भ्रामक आभास भी सृजित करती है.

जून, 2009 के अंत में संपन्न हुए इस सर्वेक्षण में उन्हीं पत्रकारों को शामिल किया गया, जो 'खबरों' से जुड़े हैं. फीचर आदि प्रभागों को इसमें शामिल नहीं किया गया. अधिक पत्रकारों वाले अखबारों हिंदुस्तान, दैनिक जागरण, प्रभात खबर और राष्ट्रीय सहारा से अवरोही (ऊपर

से नीचे) क्रम में 20-20 पत्रकारों को लिया गया. जबकि अन्य छोटे अखबारों के लगभग सभी पत्रकारों (यह संख्या प्रति अखबार 13 से लेकर 4 तक रही) को शामिल किया गया. यह फार्मूला इलैक्ट्रॉनिक चैनलों पर भी लागू किया गया. दिल्ली समेत अन्य महानगरों से संचालित होने वाले *राष्ट्रीय मीडिया संस्थानों* के पटना प्रमुखों को भी इसमें रखा गया है. ऐसे दैनिक समाचार पत्रों, पत्रिकाओं, न्यूज चैनलों और समाचार एजेंसियों के प्रायः दो या एक ही पत्रकार पटना में पदस्थापित हैं. इन सभी को इसमें शामिल किया गया है.

तालिका-1

बिहारी मीडिया

हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू प्रिंट व इलैक्ट्रॉनिक का समेकित (फैसला लेने वालों के अतिरिक्त सामान्य पदों पर) आंकड़ा

1.उच्च जाति हिंदू	**73%**
(क) ब्राह्मण	30%
(ख) भूमिहार	10%
(ग) राजपूत	17%
(घ) कायस्थ	16%
2.पिछड़ी व अति पिछड़ी जाति	**10%**
3.दलित	**1%**
4. अशराफ मुसलमान	**12%**
(क) सैयद	8%
(ख) शेख	2%
(ग) पठान	1%
(घ) मल्लिक	1%
5.पसमांदा मुसलमान	**4%**
6. महिला	**4%**
(क) उच्च जाति हिंदू	3%
(ख) पिछड़ा	1%
(ग) दलित	0%
(घ) मुसलमान (अशराफ/पसमांदा)	0%

हिंदी प्रिंट : 87/13

बिहार की राजधानी में काम कर रहे ***हिंदी समाचार पत्रों, पत्रिकाओं*** के पत्रकारों में 87 फीसदी पत्रकार सवर्ण हिंदू परिवारों से हैं. इनमें 34 फीसदी ब्राह्मण, 23 फीसदी राजपूत, 14 फीसदी भूमिहार तथा 16 फीसदी कायस्थ हैं. हिंदू पिछड़ी-अति पिछड़ी जाति, अशराफ मुसलमान और दलित समाज से आने वाले पत्रकार महज 13 फीसदी हैं. इनमें बिहार की सबसे बड़ी जाति यादव की उपस्थिति सर्वाधिक; लगभग 3 फीसदी है (तालिका-3, पृष्ठ-7). **ओबीसी से आने वाले अन्य**

पत्रकार वैश्य, कुशवाहा, कानू, केवट, कहार और चौरसिया जातियों के हैं. इनकी मौजूदगी प्रायः एक-एक फीसदी है. इसके अतिरिक्त अन्य दर्जनों पिछड़ी-अति पिछड़ी जातियों की कोई नुमाइंदगी न हिंदी-अंग्रेजी प्रिंट में दिखती है, न ही इलैक्ट्रॉनिक में. हिंदी प्रिंट में महिला *(उच्च जाति हिंदू)* की भागीदारी एक फीसदी है (तालिका-4, पृष्ठ-8).

अंग्रेजी प्रिंट : महिलाओं की मौजूदगी
अंग्रेजी अखबारों की स्थिति काना राजा सी है. इसमें महिलाओं की भागीदारी 7 फीसदी है. इसमें से पिछड़ी जाति की 4 फीसदी महिलाओं की मौजूदगी भी ध्यान खींचती है. हिंदू ओबीसी की उपस्थिति हिंदी प्रिंट (9 फीसदी) की तुलना में अंग्रेजी प्रिंट में दुगनी से ज्यादा (19 फीसदी) है. उच्च जाति हिंदुओं का कब्जा यहां 75 फीसदी है. अशराफ मुसलमान 4 प्रतिशत हैं. दलितों की उपस्थिति शून्य है. (तालिका-3 व 4, पृष्ठ संख्या-7,8)
हिंदी और अंग्रेजी प्रिंट में एक रोचक अंतर भूमिहार और राजपूतों की संख्या का है. हिंदी प्रिंट की तुलना में यहां इन दो जातियों की संख्या आधी से भी कम (राजपूत-*11* फीसदी और भूमिहार-6 फीसदी) हो गयी है. अंग्रेजी प्रिंट पर

तालिका-2

बिहार की आबादी

(उच्च जाति हिंदू व पिछड़ों की आबादी 1931 की जनगणना के आधार पर अनुमानित)

उच्च जाति हिंदू	13 %
ब्राह्मण	4.7 %
भूमिहार	2.9 %
राजपूत	4.2 %
कायस्थ	1.2 %
पिछड़ी-अतिपिछडी जाति (पिछड़ा-19.3 %, अतिपिछड़ा-32 %)	**51.5 %**
यादव	11 %
कुशवाहा	4.1 %
कुरमी	3.6 %
अन्य जातियां	-
दलित	**14.1 %**
आदिवासी	**1 %**
अशराफ मुसलमान *(मुसमानों की कुल आबादी में अशराफ तबके का हिस्सा 25 फीसदी है)*	**3.37 %**
पसमांदा मुसलमान *(मुसलमानों की कुल आबादी में पसमांदा तबका 75 फीसदी है)*	**10.13 %**
पसमांदा तबके में ओबीसी 70 फीसदी हैं जबकि **दलित मुसमान 5%** प्रतिशत)	

तालिका-3

हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू प्रिंट व इलैक्ट्रॉनिक मीडिया का वर्गीकृत (फैसला लेने वालों के अतिरिक्त सामान्य पदों पर) आंकड़ा

(महिला-पुरुष)

	उच्च जाति हिंदू	ओबीसी इबीसी	अशराफ मुसलमान	पसमांदा मुसलमान	दलित (हिंदू)
प्रिंट हिंदी	*87%*	*9%*	*1%*	*0%*	*3%*
प्रिंट अंग्रेजी	75%	19%	4%	0%	0%
प्रिंट उर्दू	8%		66%	26%	0%
इलैक्ट्रॉनिक (हिंदी/अंग्रेजी)	90%	7%	3%	0%	0%
कुल	73%	10%	12%	4%	1%

ब्राह्मणों (36%) तथा कायस्थों (21 फीसदी) का अधिपत्य दिखता है. (अंग्रेजी प्रिंट में तीन हिंदू ओबीसी, एक ईसाई व एक अशराफ मुसलमान (पुरुष) 'फैसला लेने वाले' पद पर भी हैं. हिंदी प्रिंट और इलैक्ट्रॉनिक में इन पदों पर निरपवाद रूप से ऊंची जाति के पुरुष काबिज हैं)

इलैक्ट्रॉनिक : 10 बनाम 90

पिछड़ों के नेता शहीद जगदेव प्रसाद का नारा था - *'दस का शासन नब्बे पर, नहीं चलेगा/सौ में नब्बे शोषित हैं, नब्बे भाग हमारा है.'* यह 1971-72 की बात है. उसके बाद से बिहार की पिछड़ा राजनीति की नदी में बहुत पानी बह चुका. लेकिन इस धारा का सामाजिक-राजनीतिक नेतृत्व *ज्ञान की सत्ता* पर काबिज होने के रास्तों को पहचानने में नाकाम रहा. सांस्कृतिक सत्ता का तो इनके लिए कोई मोल ही नहीं रहा. 100 में से *90* पर दावा करने वाले जगदेव का एक दूसरा नारा यह भी था -*'भैंस पालो, अखाड़ा खोदो, राजनीति करो'*. लालू प्रसाद ने तो 15 साल आइटी को समझने से इंकार करते हुए ही गुजार दिये. पिछड़े नेताओं ने कभी शिक्षा

तालिका-4

हिंदी, अंग्रेजी, उर्दू प्रिंट व इलैक्ट्रॉनिक मीडिया में (फैसला लेने वाले पदों के अतिरिक्त सामान्य पदों पर) महिलाएं

	कुल महिलाएं	ओबीसी इबीसी	अशराफ मुसलमान	पसमांदा मुसलमान	दलित
प्रिंट हिंदी	1%	0%	0%	0%	0%
प्रिंट अंग्रेजी	7%	4%	0%	0%	0%
प्रिंट उर्दू	0%	0%	0%	0%	0%
इलैक्ट्रॉनिक (हिंदी/अंग्रेजी)	10%	0%	0%	0%	0%
कुल	3%	1%	0%	0%	0%

की बात की भी तो वह कई कारणों से साक्षरता से आगे नहीं बढ़ सकी.

बहरहाल, हिंदी-अंग्रेजी **इलैक्ट्रॉनिक मीडिया** का सामाजिक परिदृश्य सर्वाधिक एकरस है. इनमें 90 फीसदी पदों पर ऊंची जाति के हिंदुओं का कब्जा है. हिंदू ओबीसी 7 प्रतिशत हैं. अशराफ मुसलमानों की नुमाइंदगी 3 फीसदी है. महिलाएं जरूर 10 फीसदी हैं, जो ऊंची जाति के हिंदू परिवारों से आती हैं. दलित यहां भी सिरे से नदारद हैं. (तालिका-3 व 4, पृष्ठ संख्या-7,8)

उर्दू प्रिंट : पसमांदा आंदोलन का प्रभाव

हिंदी और अंग्रेजी प्रिंट मीडिया के विपरीत उर्दू मीडिया की ओर देखना कई मामलों में सुखद है. पटना से उर्दू के पांच दैनिक छपते हैं-*कौमी तंजीम, रोजनामा* (राष्ट्रीय सहारा), *संगम, पिंदार* और *फारूकी तंजीम*. आश्चर्यजनक रूप से इनमें से तीन - *संगम, पिंदार* और *फारूकी तंजीम* - का मालिकाना हक पसमांदा तबके के पास है. इन तीनों के संपादक भी इसी समुदाय के हैं. हिंदी या अंग्रेजी मीडिया के संबंध में फिलवक्त ऐसी कल्पना भी असंभव

है. वस्तुतः बिहार में हिंदुओं का सामाजिक न्याय का राजनीतिक आंदोलन अपने विरोधाभासों में घिर कर मरणासन्न स्थिति में है. जबकि पसमांदों का आंदोलन एक जीवंत आंदोलन है. पिछले चार-पांच वर्षों से इसका तेज और तेवर देखते बन रहा है.

पिछड़े हिंदुओं का 'सामाजिक न्याय' मुसलमानों को एक इकाई मानकर उनके अशराफ तबके से गठजोड़ करता रहा है, उन्हें भौतिक लाभ पहुंचाता रहा है और उनकी धार्मिक सनक को संरक्षित करता रहा है. इसके विपरीत मुसलमानों के सामाजिक न्याय के आंदोलन - पसमांदा आंदोलन - में हिंदुओं के दलित-पिछड़े तबकों को साथ लेकर चलने की प्रवृत्ति है. यह प्रवृत्ति एक सहज और अधिक प्रगतिशील सामाजिक ध्रुवीकरण का वाहक बनने की संभावना रखती है. इस आंदोलन का प्रतिबिंब उर्दू पत्रकारिता पर भी दिखता है. *संगम* का लक्ष्य प्रत्यक्ष रूप से पसमांदा आंदोलन को गति देने का रहा है. *फारूकी तंजीम* और *पिंदार* की संपादकीय नीति भी कमोवेश इस आंदोलन के पक्ष में रही है. जबकि सैयद वर्चस्व वाले *कौमी तंजीम* और *रोजनामा* इस आंदोलन का प्रत्यक्ष-परोक्ष विरोध करते रहे हैं. उर्दू अखबारों के कुल पदों में *66* फीसदी प्रतिनिधित्व अशराफ तबके का है जबकि पसमांदा तबके के (ओबीसी) पत्रकार *26* फीसदी हैं. इन तथ्यों के साथ यह देखना विचलित करता है कि उर्दू समेत पूरी पत्रकारिता में दलित मुसलमानों और मुसलमान महिलाओं की कोई नुमाइंदगी नहीं है (तालिका-3 व 4, पृष्ठ संख्या-7,8). एक और प्रतिगामी बात यह है कि पसमांदा नेतृत्व वाले उर्दू अखबार भी मुसलमानों के दैनंदिन जीवन पर धर्म की जकड़बंदी को ढीला करने की कोई कोशिश नहीं कर रहे.

लोकसभा चुनाव (2009) में हिंदी प्रदेशों के अखबारों ने बिकी हुई खबरें जमकर छापीं. इसके लिए बकायदा 'पैकेज' बने तथा प्रत्याशियों से वसूल किये गये पैसे सीधे प्रबंधन को पहुंचाए गये. बाद में कुछ राजनेता, संपादक, पत्रकार इसके विरोध में सामने आये व पत्रकारिता के पतन की भर्त्सना की. अखबारों का यह कृत्य निश्चय ही निंदनीय है. किन्तु, सच्चाइयां इतनी इकहरी नहीं होतीं.

विश्वास का धंधा

'कानपुर में स्व. नरेंद्र मोहन (दैनिक जागरण के मालिक) के नाम पर पुल का नामाकरण उस समय हुआ जब मैं उत्तर प्रदेश सरकार में मंत्री था. उनके मल्टीप्लैक्स को जमीन हमारे समय में दी गयी. जागरण का जो स्कूल चलता है और उनका जहां दफ्तर है उनकी जमीनें हमारे समय में उन्हें मिलीं. लेकिन यह सब मैंने किसी अपेक्षा में नहीं अपना मित्र धर्म निभाते हुए किया. फिर भी मेरे साथ ऐसा व्यवहार (खबर के लिए पैसे की मांग) हुआ. इतनी निर्लज्जता से चलेंगे तो कैसे चलेंगे रिश्ते?' [1]

-लालजी टंडन, लखनऊ से भाजपा के विजयी लोस प्रत्याशी

'दैनिक जागरण के मालिक को हमने वोट देकर सांसद बनाया था. वे बताएं वोट के बदले उनने हमें कितना धन दिया था? तब खबर के लिए हम धन क्यों दें?' [2]

-मोहन सिंह, देवरिया से सपा के पराजित लोस प्रत्याशी

'मैंने उषा मार्टिन (प्रभात खबर को चलाने वाली कंपनी) को भी कठोतिया कोल ब्लॉक दिया. प्रभात खबर को यह बतना चाहिए कि उसकी शर्तें क्या थीं. मैंने उनसे कितने पैसे लिए?' [3]

-मधु कोड़ा, झारखंड के पूर्व मुख्यमंत्री, चाईबासा से निर्दलीय सांसद

मीडिया पर चुनावों के दौरान पक्षपात के आरोप लगते रहे हैं. इस तरह के आरोप प्रायः चुनाव हार गये दल और प्रत्याशी लगाते हैं. या फिर दलित-पिछड़े नेताओं की ब्राह्मण-बनिया प्रेस से शिकायतें रही हैं. इस तरह की आपत्तियों को खिसियानी बिल्ली का प्रलाप मान कर नजरअंदाज कर दिया जाता है. लेकिन इस बार किस्सा कुछ अलग है. इस बार शिकायत उन नेताओं को भी है जो चुनाव जीत गये हैं. नाराज वे भी हैं, जो कुछ समय पहले तक इसी मीडिया के खास थे. कारण?

इसका कारण सीधा है. बनिया, ब्राह्मण पर भारी पड़ा है. जो काम रिश्तों के आधार पर होता

रहा था, उसके लिए अब अचानक दाम मांगा जाने लगा है.

पुल तुम्हारे नाम किया, जमीन दी, जनता के वोट से विधान सभा में पहुंचे तो अपना वोट देकर तुम्हें राज्यसभा में भेजा. आजीवन मित्र धर्म निभाया. तब भी यह अहसानफरामोशी?

वास्तव में यह पहली बार नहीं था जब चुनाव के दौरान अखबारों ने पैसा लेकर खबर छापी हो. पहले यह पैसा पत्रकारों की जेब में जाता था. अखबारों के प्रबंधन ने धीरे-धीरे इसे संस्थागत रूप देना शुरू किया. ज्ञात तथ्यों के अनुसार, **छत्तीसगढ़** में वर्ष 1997 के विधानसभा चुनाव से इसकी शुरुआत हिंदी के दो प्रमुख मीडिया समूहों ने की थी. उस चुनाव में 25 हजार रुपये का पैकेज प्रत्याशी के लिए तय किया गया था, जिसमें एक सप्ताह की दौरा-रिपोर्टिंग, तीन अलग-अलग दिन विज्ञापन के साथ मतदान वाले दिन प्रत्याशी का इंटरव्यू प्रकाशित करने का वादा शामिल था.[4] उसके बाद के सालों में हिमाचल प्रदेश, पंजाब, चंडीगढ़, हरियाणा, राजस्थान आदि में चुनावों के दौरान यह संस्थागत भ्रष्टाचार पैर पसारता गया. उत्तर प्रदेश और बिहार जैसे राजनैतिक रूप से सचेत राज्यों में अखबारों को इस मामले में फूंक-फूंक कर कदम रखना पड़ा. संस्थागत रूप (जिसमें पैसा सीधे प्रबंधन को जाता है) से उत्तरप्रदेश में अखबारों ने पहली बार उगाही वर्ष 2007 के विधानसभा चुनाव में की.[5] वैश्विक आर्थिक मंदी के बीच वर्ष 2009 के लोकसभा चुनाव में उगाही की यह प्रणाली बिहार पहुंची.

इस चुनाव में बिहार-झारखंड में हिंदुस्तान ने 'बिकी हुई' खबरों के नीचे *'एचटी मीडिया इनिशिएटिव'* लिखा तो प्रभात खबर ने *'पीके मीडिया इनिशिएटिव'*. दैनिक जागरण ने बिकी हुई खबरों का फांट कुछ बदल दिया. (अस्पष्ट अर्थ वाले इन शब्दों अथवा बदले हुए फांट से पता नहीं वे पाठकों को धोखा देना चाहते थे या खुद को?). इस सीधी वसूली पर कुछ प्रमुख नेताओं ने जब पैसे वसूलने वाले समाचार पत्रों के मालिकों से संपर्क किया तो उनका उत्तर था-*जब हमारा संवाददाता उपहार या पैसे लेकर खबरें लिखता है तो हम (मालिक) ही सीधे धन क्यों नहीं ले सकते?*[6]

बिहार में बबेला

खबरों के लिए धन की इस संस्थागत उगाही पर बबेला बिहार से शुरू हुआ. इस जागरूकता के लिए बिहार की तारीफ की जानी चाहिए. यद्यपि इस पर संदेह के पर्याप्त कारण भी मौजूद हैं. तथ्य यह है कि बिहार में दैनिक जागरण, हिंदुस्तान, प्रभात खबर आदि के पत्रकारों द्वारा चुनाव के दौरान स्थानीय स्तर पर वसूली के किस्से आम रहे हैं. झारखंड में तो अखबार चुनावों के दौरान अपना पुराना हिसाब भी चुकता करते रहे हैं.[7] लेकिन ऊंचे तबके (ऊंची जाति/ऊंची शिक्षा/ संपादकों से मित्र धर्म का निर्वाह करने वाले) राजनेताओं से अदना पत्रकार मोल-भाव

की हिमाकत नहीं करते. इस कोटि के नेताओं का मीडिया मैनेजमेंट वरिष्ठ पत्रकार, स्थानीय संपादक आदि करते हैं जबकि मीडिया के उपहास, उपेक्षा और भेदभाव की पीड़ा पिछड़े राजनेताओं (नीची जाति/ कम शिक्षित/ गंवई) के हिस्से में रहती है.[8]
लेकिन इस बार? अखबार मालिकों ने तो सब धान साढ़े बाईस पसेरी कर डाला. टके सेर भाजी, टके सेर खाजा!

विरोध का धंधा

इस अंधेर को प्रभात खबर के प्रधान संपादक हरिवंश ने 'खबरों का धंधा'[9] कहा तो जनसत्ता के पूर्व संपादक प्रभाष जोशी ने 'खबरों के पैकेज का काला धंधा'[10]. जबकि *'प्रभात खबर भी इस मामले में शामिल था.*[11]
प्रभाष जोशी ने बांका जाकर जदयू के बागी, लोकसभा के निर्दलीय प्रत्याशी दिग्विजय सिंह के पक्ष में आयोजित जनसभा को संबोधित किया था. उनके साथ प्रभात खबर के प्रधान संपादक हरिवंश भी थे. बाद में श्री जोशी ने अपने लेख में दिग्विजय सिंह का **'मीडिया प्रबंधन'** कर रहे एक पत्रकार की डायरी के हवाले से इस चुनाव में मीडिया के 'पैकेज के काले धंधे की' कठोर भर्त्सना की. जोशी का यह लेखकीय साहस प्रशंसनीय है किन्तु उनके लेख में विस्तार से उद्धृत की गयी पत्रकार की डायरी कुछ ज्यादा भेदक प्रसंगों को भी सामने लाती है. श्री जोशी ने इस डायरी के हवाले से सिर्फ पैसों के लेन-देन की निंदा की. अन्य तथ्यों पर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया.
श्री जोशी द्वारा कोट की गयी डायरी का अंश -

*'20अप्रैल,2009 : आज एक प्रमुख दैनिक के स्थानीय प्रतिनिधि अपने विज्ञापन इंचार्ज के साथ आए. संवाददाता कह रहे थे-मैंने खबर भेजी थी, पर वहां एक जाति विशेष के संपादक हैं. छापेंगे नहीं. यानी **पैकेज के बिना अखबार में खिड़की-दरवाजे नहीं खुलेंगे.**'*[12]

'21अप्रैल,2009 : एक पत्रकार ने.. अपने स्थानीय संपादक को बताया कि उसकी खबरें छपनी क्यों जरूरी हैं. स्थानीय संपादक एक जाति विशेष का था और एक दबंग उम्मीदवार भी संपादक की जाति का था. इस पत्रकार ने संपादक को समझाया कि हमने उससे डील की तो जाति समीकरण बिगड़ सकता है. दूसरे उम्मीदवार जो मंत्री हैं उनके बारे में कहा कि वे सरकारी विज्ञापन दिलवाते रहेंगे. उनसे क्या लेन-देन करना. दिल्ली में खूब पहचान रखनेवाले एक उम्मीदवार के बारे में कहा कि जब उनसे मिलने गया तो वे फोन पर.. (अखबार के

मालिक) से बात कर रहे थे. उनसे क्या पैकेज लिया जाए.' 13

जाति, पद और परिचय पर आधारित पत्रकारिता का फर्रूखाबादी खेल उपरोक्त उद्धरणों में स्पष्ट है, जिसे पत्रकारिता पर जारी बहस के दौरान नजरअंदाज कर दिया गया है. पत्रकारिता का यह पतन वैश्विक मंदी के कारण वर्ष 2009 में अचानक घटित होने वाली घटना नहीं है. जातिजीवी संपादक व पत्रकार इसे वर्षों इस ओर धकेलते रहे हैं. वस्तुतः पैकेज ने जातिजीवी संपादकों की मुट्ठी में कैद अखबारों के खिड़की-दरवाजे सभी जाति के धनकुबेरों के लिए खोल दिये हैं. इसमें संदेह नहीं कि अखबारों का चुनावी पैकेज बेचना बुरा है. लेकिन अधिक बुरा है पत्रकारिता में जाति धर्म और मित्र धर्म का निर्वाह.

व्यवहारिक दृष्टि से देखा जाए तो..

चुनावों के दौरान खबरों की बिक्री पिछले लगभग एक दशक से चल रही है.14 इसने अखबारों की विश्वसनीयता गिरायी है. लेकिन पैसा लेकर छापी गयी खबर की बदौलत शायद ही किसी प्रत्याशी की जीत हुई हो.15 उत्तरप्रदेश में वर्ष 2007 के विधान सभा चुनाव में तीन समाचार पत्रों ने सरेआम धन लेकर खबर छापने का अभियान चलाया था और करोड़ों रुपये की अवैध उगाही की थी. समाचार पत्रों के जरिए अपनी छवि सुधारने वाले राजनीतिक दलों ने इन समाचार पत्रों को विज्ञापन देकर भी पैसा पानी की तरह बहाया. परंतु इनके चुनावी सर्वेक्षण व आकर्षक समाचार भी मतदाताओं का रुझान नहीं बदल सके और विज्ञापन पर सबसे कम धन खर्च करने वाली बहुजन समाज पार्टी को पूर्ण बहुमत मिल गया.16 अखबारों की विश्वसनीयता की हालत यह हो गयी कि प्रत्याशी अब पक्ष में खबर छापने की बजाय कोई खबर न छापने के लिए पैसे देने लगे हैं. बदनामी इतनी हो चुकी है कि पक्ष में खबर छपने पर मतदाताओं द्वारा 'उलटा मतलब' निकाले जाने की आशंका रहती है.17

पत्रकारिता के मूल्यों में ऐसे भयावह क्षरण से नुकसान दलित, पिछड़ों की राजनैतिक ताकतों, वाम आंदोलनों तथा प्रतिरोध की उन शक्तियों को भी हुआ है, जो इसके प्रगतिशील तबके से नैतिक और वैचारिक समर्थन की उम्मीद करते हैं. मीडिया के ब्राह्मणवादी पूंजीवाद ने इन्हें उपेक्षित, अपमानित और बुरी तरह दिग्भ्रमित भी किया है. लेकिन मीडिया की गिरती विश्वसनीयता पर जाहिर की जा रही चिंता का कारण यह नहीं है. उन्हें चिंता है कि-*'यदि मीडिया की ताकत ही नहीं रहेगी तो कोई अखबार मालिक किसी सरकार को किसी तरह प्रभावित नहीं कर सकेगा. फिर उसे अखबार निकालने का क्या फायदा मिलेगा? यदि साख नष्ट हो गयी तो कौन सा सत्ताधारी नेता, अफसर या फिर व्यापारी मीडिया की परवाह करेगा? इसलिए व्यवहारिक दृष्टि से देखा जाए*

तो यह अखबार के संचालकों के हक में है कि छोटे-मोटे आर्थिक लाभ के लिए पैकेज पत्रकारिता को बढ़ावा न दें.' **18**

व्यवहारिकता का यह तकाजा पूंजीवाद से मनुहार करता है कि वह ब्राह्मणवाद से गठजोड़ बनाए रखे. कौड़ी-दो-कौड़ी के लिए इस गठबंधन को नष्ट न करे. सलाह स्पष्ट है अगर हम पहले की तरह गलबहियां डाल चलते रहें तो ज्यादा फायदे में रहेंगे. सरकार, अफसर, व्यापार सब रहेंगे हमारी मुट्ठी में. अभी लोकतंत्र की तूती बोल रही है. इसलिए वह क्षद्‌म बनाए रखना जरूरी है, जिससे बहुसंख्यक आबादी का विश्वास हम पर बना रहे. मीडिया की *'विश्वसनीयता'* बनाए रखना इनके लिए *'समय का तकाजा'* है.

संदर्भ व टिप्पणियां

1. लालजी टंडन से रूपेश पांडेय की बातचीत, *प्रथम प्रवक्ता, (संपादक-रामबहादुर राय) का प्रभाष जोशी के निर्देशन में पैकेज पर केंद्रित अंक, 16 जुलाई, 2009.*

2. प्रभाष जोशी का लेख 'जिसने भुगता वे बोले', वही.

3. *26* जुलाई, 2009 को आयोजित प्रेस कांफ्रेस में मधु कोड़ा ने कहा - 'प्रभात खबर मुझ पर उषा मार्टिन (प्रभात खबर को चलाने वाली कंपनी) का काम नहीं करने के कारण दबाब बना रहा है. दलाली नहीं चली तो कंपनी ने अपने अखबार का इस्तेमाल कर मुझे बदनाम करना शुरू कर दिया. यह सब तब शुरू हुआ जब कंपनी के काम की एक फाइल मेरे पास कोर्ट की अवमानना करते हुए भिजवायी गयी...कोई किसी व्यापारी के साथ कहीं जाने से उसका पार्टनर हो जाता है क्या? अगर ऐसा है तो उषा मार्टिन के मालिक समीर लोहिया, झाबर आदि भी मेरे साथ लंदन, स्वीटजरलैंड और पेरिस गये थे तो क्या वे मेरे पार्टनर हो गये? मैंने उषा मार्टिन को भी कठोतिया कोल ब्लॉक दिया. प्रभात खबर को यह बताना चाहिए कि उसकी शर्तें क्या थीं. मैंने उनसे कितने पैसे लिए?', सहारा समय बिहार-झारखंड तथा ईटीवी पर 27 जुलाई, 2009 को प्रसारित.

4.जाकिर हुसैन की रिपोर्ट 'छत्तीसगढ़ में पैकेज की पुरानी परंपरा', *प्रथम प्रवक्ता, (संपादक-रामबहादुर राय) का प्रभाष जोशी के निर्देशन में पैकेज पर केंद्रित अंक, 16 जुलाई, 2009.*

5. उत्तर प्रदेश से रूप चौधरी की रिपोर्ट 'इधर जन जागरण, उधर धन जागरण', सुशील राधव की रिपोर्ट 'जैसा पैसा वैसी खबर', वही.

6.रूप चौधरी की रिपोर्ट 'इधर जन जागरण, उधर धन जागरण', वही.

7. गत लोकसभा चुनाव में भी ऐसे वाकये सामने आये.चाईबासा से निर्दलीय प्रत्याशी मधु कोड़ा को हराने के लिए बेबुनियाद खबरें छापने के आरोप प्रभात खबर पर लगे. अखबार ने कुछ अज्ञात अल्पसंख्यक संगठनों के बयान प्रमुखता से छापे, जिनमें कोड़ा को वोट न देने की अपील की गयी थी. ये बयान मतदान तिथि के ठीक पहले छापे गये ताकि इनका खंडन न किया जा सके.

8. वर्ष 2000 में झारखंड राज्य बनने के बाद अखबार उसके पिछड़ा-आदिवासी समुदाय से आने वाले जाहिल, काहिल और भ्रष्ट नेतृत्व को बरगलाकर, ब्लैकमेल कर अपना काम निकालते रहे हैं. बिहार में भी राबड़ी-लालू प्रसाद शासन काल के दौरान प्रेस का रवैया कमोवेश ऐसा ही था. सामंती ताकतों के सत्ता में रहने पर इनकी

नीति चापलूसी कर काम निकालने की रहती है.

9. अप्रैल,2009 में *प्रभात खबर* में प्रधान संपादक हरिवंश का लेख.

10. प्रभाष जोशी का लेख, *जनसत्ता, 10 मई, 2009.*

11.*झारखंड से प्रवक्ता ब्यूरो की रिपोर्ट* 'तो फिर खबरः नहीं छपेगी'-*'प्रभात खबर में भी खबरें उसी की ज्यादा छपीं, जिसने विज्ञापन ज्यादा दिया. वहां अघोषित नियम बनाया गया कि जो पैसा देगा उसको कवरेज मिलेगा', प्रथम प्रवक्ता,(संपादक-रामबहादुर राय) का प्रभाष जोशी के निर्देशन में पैकेज पर केंद्रित अंक, 16 जुलाई, 2009.*

12.प्रभाष जोशी के लेख 'खबरों के पैकेज का काला धंधा' में पत्रकार (अनुराग चतुर्वेदी) की डायरी का उद्धरण, *जनसत्ता, 10 मई, 2009.*

13. उपरोक्त व अनुराग चतुर्वेदी की डायरी, *प्रभात खबर 15 मई, 2009*

14.जाकिर हुसैन की रिपोर्ट 'छत्तीसगढ़ में पैकेज की पुरानी परंपरा, *प्रथम प्रवक्ता, (संपादक-रामबहादुर राय) का प्रभाष जोशी के निर्देशन में पैकेज पर केंद्रित अंक, 16 जुलाई, 2009.*

15.देखें, इलाहाबाद से *राजीव यादव की रिपोर्ट* - 'एक गैर सरकारी संगठन के प्रत्याशी का कहना कि 'देश खतरे में है', 'मतदाता मेरा भगवान' काफी चर्चा रहा. उन्हें *1563* वोट मिले. पर चुनावों में हर दिन उनकी खबर छपती थी. क्योंकि वे चुनाव वोट के लिए नहीं बल्कि खबरों के लिए लड़ रहे थे. जितनी ज्यादा उनकी खबरें छपीं उतनी ज्यादा उन्हें बाद में फंडिंग होगी'. *संवाददाता अजय कुमार श्रीवास्तव से बातचीत* में देवरिया से पराजित सपा प्रत्याशी मोहन सिंह का कथन -'अखबार इस भ्रम में न रहें कि उनके विज्ञापन से बसपा प्रत्याशी को जीत मिली है. ऐसा होता तो लखनऊ से (लालजी टंडन के प्रतिद्वंद्वी) बसपा प्रत्याशी अखिलेश दास जरूर जीत जाते. पैसा खर्च कर चुनिंदा लोग ही जीते हैं. देवरिया में बसपा प्रत्याशी आठ महीने से पैसा बहा रहा था. उसने अखबारों को 'हायर' किया. मंदिर, मदरसों, ग्राम प्रधानों, ब्लॉक प्रमुखों को लाखों बांटे. वहां शिक्षा का स्तर नीचा था इसलिए 'धन' जीत गया.'. *सौरभ राय की रिपोर्ट* में आजमगढ़ से चुनाव जीतने वाले भाजपा के रामाकांत यादव का कथन - 'हिंदुस्तान अखबार ने खबर छापने के लिए मुझसे 10 लाख रुपये की मांग की थी. जब मैंने रुपये नहीं दिये तो इस अखबार के मुताबिक मैं चुनाव बुरी तरह हार रहा था. लेकिन नतीजा सामने है. मैं चुनाव जीत गया'. *सुरेंद्र किशोर का लेख* - 'खुशखबरी है कि गत लोकसभा चुनाव में जितने उम्मीदवारों ने अखबारों को पैसे देकर अपने पक्ष में तैयार विज्ञापनों को खबरों के रूप में छपवाया, उनमें से अधिकतर उम्मीदवार चुनाव हार गये', *प्रथम प्रवक्ता, (संपादक-रामबहादुर राय) का प्रभाष जोशी के निर्देशन में पैकेज पर केंद्रित अंक, 16 जुलाई, 2009.*

16.रूप चौधरी की रिपोर्ट 'इधर जन जागरण, उधर धन जागरण', वही.

17. सोमदत्त शास्त्री की रिपोर्ट - 'छत्तीसगढ़ में एक राजनीतिक दल की ओर से मीडिया मैनेजमेंट में लगे पीयूष गुप्ता का कहना है कि उन्होंने कुछ अखबारों को यह कहकर 'पैकेज' की रकम दी कि वे भगवान के लिए कोई खबर न छापें, यही उनके हक में होगा. पीयूष गुप्त के मुताबिक पैकेज को लेकर अखबारों की इतनी बदनामी हो चुकी थी कि अगर वे पक्ष में खबर छापें तो लोग उलटा मतलब निकाल रहे थे...अधिकांश राजनेताओं की राय है कि अखबारी खबरें हवा बनाने में नाकाम रहीं. इसके बावजूद उन्हें पैकेज केवल इसलिए दिये गये ताकि वे अपना मुंह बंद रखें. किसी तरह का 'नयूसेंस' न क्रियेट करें. *प्रथम प्रवक्ता, (संपादक-रामबहादुर राय) का प्रभाष जोशी के निर्देशन में पैकेज पर केंद्रित अंक, 16 जुलाई, 2009.*

18.पत्रकार सुरेंद्र किशोर का लेख *'साख नहीं रही तो फिर क्या बचेगा'*, वही.

अविश्वास का मतलब

कुछ समय से शोर है कि मीडिया की विश्वसनीयता गिर रही है. 'मीडिया की विश्वसनीयता'; क्या मतलब? विशाल पूंजी और विराट नेटवर्क वाले व्यवसाय से विश्वसनीयता की ऐसी उम्मीद क्यों की जा रही है? हम किसी दूध पाऊडर बनाने वाली कंपनी से यह अपेक्षा तो नहीं करते कि वह गरीब बच्चों के लिए न्यायपूर्ण होगी. वह अपने उत्पाद की खरीद में सामाजिक या आर्थिक रूप से पिछड़ी माताओं को रियायत देगी. हम जानते हैं कि डिब्बाबंद दूध का उत्पादन धंधा है. इसे सामाजिक स्वीकार्यता हासिल है. पत्रकारिता के साथ ऐसा नहीं है. मानवीय समाज की सभी गतिविधियां खालिस धंधा नहीं हो सकती. राजनीति और पत्रकारिता ऐसे पेशे हैं, जिनके बारे में हम कम से कम ऐसी सदाशयता तो पालते ही हैं. अखबार निकालने और आलू का सुखौता (चिप्स) बेचने में फर्क है. वस्तुतः कोई भी मीडिया संस्थान पूंजी की बदौलत नहीं, जनता के विश्वास की बदौलत चलता है. और यह विश्वास उससे अलग है, जो गुणवत्ता और कीमत की कसौटी पर किसी उपभोक्ता वस्तु अथवा ब्रांड के प्रति बनता है. 'बिकी हुई' खबरें भले ही छपती हों लेकिन जनता खबरों की खरीद-फरोख्त नहीं करती. कोई यह नहीं कहता कि चार रुपये कीमत वाले अखबार में छपी खबर अधिक 'अच्छी' (सच्ची) है और दो रुपये वाले अखबार में छपी खबर कम 'अच्छी'. खबरें अखबार खरीदने वाले की 'वस्तु' नहीं होतीं. वे फैलती हैं, जनता द्वारा व्याख्यायित होती हैं और अंततः जनमत को अनुकूलित करती हैं. खबर कोई उपभोक्ता वस्तु नहीं है.

खबर क्या है?

हर खबर एक नयी सूचना है. खबर का अपने आप कोई अस्तित्व नहीं होता. असंख्य सूचनाओं में से प्रसारण योग्य चयनित सूचनाएं ही 'खबर' हैं. खबरनवीसी प्रसारण योग्य सूचनाओं के चुनाव का उपक्रम है. खबरों का व्यवसाय सूचनाओं के चुनाव का व्यवसाय है. वह खबरों के निर्माण अथवा बिक्री का व्यवसाय नहीं है, जैसा कि प्रायः कहा जाता है. यह अनैतिक तब हो जाता है जब खबरों के चुनाव में घपला होता है या उसके आंतरिक तथ्यों को धुंधला किया जाता है.

पत्रकारिता के जन्म के पहले भी सूचनाएं थीं और 'खबरें' भी. इन खबरों के प्रसारण के पारंपरिक माध्यम खलिहान, दालान, पूजा स्थलों का चबूतरा, चौपाल, हाट, मेला आदि थे. सूचनाओं को 'खबर' बनाने के दौरान प्रभावशाली समूह घपलेबाजी उस समय भी करता था. मनुस्मृतियां इसी प्रक्रिया में रची जातीं थीं. कानों में पिघला सीसा डालने और जीभ काटने की धमकी से उन सूचनाओं को फैलने से रोका जाता था, जिनका 'खबर' बनना प्रभुवर्ग के लिए खतरा था.

फ्री प्रेस

पत्रकारिता एक आधुनिक अवधारणा है तथा पत्रकारिता व लोकतंत्र का अन्योन्याश्रय संबंध है. लोकतंत्र की ही तरह पत्रकारिता भी प्रभुवर्गों के प्रभुत्व को तोड़ने तथा समतामूलक समाज के निर्माण की कवायद है. लोकतंत्र में इसे आजादी मिली है. उसकी इस आजादी का उपयोग कौन अपने हित की सूचनाओं के प्रसारण के लिए कर रहा है? आप - अगर भारत के आर्थिक-सामाजिक प्रभुवर्ग के क्रूर लचीलेपन और संकट के समय आपसी गठजोड़ की आश्चर्यजनक क्षमता का इतिहास नहीं जानते तो - प्रसन्न हो सकते हैं कि अब अभिव्यक्ति की आजादी है. किसी सूचना को फैलाने के लिए न किसी की जीभ काटी जाती है, न ही कानों में पिघला सीसा डाला जाता है. *फ्री प्रेस* सबके लिए उपलब्ध है. उसकी आजादी पर कभी-कभार (जैसे 1975 में आपात काल के समय) संकट के बादल मंडराते हैं लेकिन लोकतंत्र के दबाव में जल्दी ही छंट भी जाते हैं. इस तरह के निष्कर्ष पर पहुंचना अव्वल तो *फ्री प्रेस, स्वतंत्र पत्रकारिता* और *अभिव्यक्ति की आजादी* को पर्यायवाची समझने की भूल करना है. दूसरे, इस तथ्य को नजरअंदाज करना है कि *'प्रेस'* पर उन्हीं प्रभुवर्गों का आर्थिक और बौद्धिक प्रभुत्व है, जिनके हितों को *अभिव्यक्ति की आजादी* से निर्णायक नुकसान पहुंचेगा. हमें यह सवाल खुद से और सार्वजनिक रूप से भी पूछना ही चाहिए कि *प्रेस किससे, कैसे और किन शर्तों पर आजाद है?* पत्रकारिता की आजादी - फ्री प्रेस - का मतलब ऊंचे वर्ग और ऊंची जाति के हितों का पोषण करने वाली सूचनाएं, विचारों को प्रसारित करने की आजादी है.

एक सभ्य समाज में 'अभिव्यक्ति की आजादी' का मतलब होना चाहिए सभी को, अपना मत हर संभव तरीके से, समाज के सामने रखने का साधन मुहैय्या करवाना. और दूसरों के मत पर तर्क करने, जिरह कर सकने का महौल बनाये रखना. क्या हमारा लोकतंत्र सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक गुलामी झेल रहे लोगों को यह सुविधा देता है? कभी सूचनाओं के लिए जीभ काटी जाती थी. आज गोली मारी जाती है. कभी कानों में पिघला सीसा डाला जाता

था. आज जेलों में ठूंसा जाता है. और मीडिया संस्थानों में 'खबर' होती है –'मारे गये नक्सलियों से मिला नक्सली साहित्य का जखीरा'. 'माओवादी साहित्य समेत चार पुरुष और दो महिलाएं गिरफ्तार'.

अभिव्यक्ति की आजादी

राजनैतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक – सभी किस्म की आजादियों की शुरुआत गुलामी की समझ और उसकी अभिव्यक्ति से ही संभव है. भारतीयों ने अंग्रेजों से राजनीतिक आजादी छीनी थी. अब स्थानीय प्रभुवर्गों से आर्थिक आजादी की लड़ाई चल रही है. सामाजिक व सांस्कृतिक आजादी के बारे में तो अभी हमने ढंग से सोचना भी शुरू नहीं किया है.

बहरहाल, 'प्रेस की आजादी' और 'अभिव्यक्ति की आजादी' अलग-अलग चीजें हैं. लगभग विरोधाभासी. प्रेस चाहे आर्थिक उदारवाद, गुड गवर्नेंस, विकास की वकालत कर रहा हो या राममंदिर की, या फिर देश में द्विदलीय लोकतंत्र की अनिवार्यता पर बहस करवा रहा हो, वह वास्तव में द्विज-हितों को संवारने की कोशिश में लगा होता है. वह प्रभुवर्ग की शत्रु शक्तियों – बहुसंख्यक पिछड़े, दलित हिंदुओं तथा मुसलमानों को बांटने, तोड़ने, भ्रमित करने, उनके विचारों को ऊंची जाति के हिंदुओं के हितों के अनुरूप अनुकूलित करने वाली सूचनाएं प्रसारित करने में रुचि रखता है. इस प्रकार प्रसारण के लिए चयनित 'खबर' उपभोक्ता वस्तु नहीं, बल्कि प्रभु वर्गों का एक अमूर्त अस्त्र होती है. इसके अलावा *फ्री प्रेस* उन्हें इन तबकों के आक्रोश से बचाने के लिए सेफ्टी-वैल्व का काम भी लगातार करता रहता है. जब 'पत्रकारिता की विश्वसनीयता' में गिरावट की बात होती है तो वास्तव में उसका आशय इसी सेफ्टी-वैल्व की कार्य दक्षता में कमी आने से होता है. ये सेफ्टी-वैल्व ही मीडिया संस्थानों की शक्ति का स्रोत हैं. इन्हीं द्वारा बरकार रखने गये नियंत्रित वायु-दाब में प्रभु वर्गों के राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक हितों का नरम भात तैयार होता है.

अविश्वसनीय होना हमेशा अवगुण नहीं होता. एक लेखक दक्षिणपंथियों के लिए अविश्वसनीय है और वामपंथियों, समाजवादियों व मंडलवादियों के लिए भी, तो मैं इसे गुण कहूंगा. उसकी प्राथमिकता सत्य, प्रतिबद्धता मनुष्यता और भावना लोककल्याण की होनी चाहिए. यह बातें उसे राजनीतिक समेत सभी प्रकार की सत्ताओं की दृष्टि में संदिग्ध बनायेंगी ही. सत्ता केंद्रों का अविश्वास उसके उद्देश्यों के असफल होने का परिचायक नहीं है. मीडिया की विश्वसनीयता में गिरावट भी इससे नितांत भिन्न परिघटना नहीं है. उसकी भी अविश्वसनीयता का मतलब यह नहीं है कि वह अपने उद्देश्यों से भटक रहा है. उसका अर्थ महज इतना है कि उसके अस्त्र भोथरे साबित होते जा रहे हैं. उसका छल बहुसंख्यक जनता समझने लगी है. यह अभिव्यक्ति की आजादी के भ्रम को समझे जाने की संभावना का संकेत है.

47 के पहले, 90 के बाद

1. *'(सामाजिक) सुधारों को आगे बढ़ाने की पहली शर्त समाज में ब्राह्मणों का नेतृत्व कायम करना है.यह देश जब सुधरेगा, तब इसी से सुधरेगा.'*
-1890 में प्रतापनारायण मिश्र (ब्राह्मण और हिंदुस्तान के संपादक).[1]

2. *'संवाद मिला है कि एक किसान अपनी गऊयें लेकर पाली जा रहा था, उसने कुएं में गिरकर प्राण दे दिये. कुएं के मालिक से गऊओं को पानी पिलाने के लिए कहा गया किंतु वह अधिक गऊओं को पानी पिलाने में असमर्थ था. गऊओं का दुख किसान से देखा नहीं गया और कुएं में कूद कर प्राण दे दिए. शहर के दानी सज्जनों द्वारा सेवा संघ को गऊओं की सेवा के लिए काफी सहायता प्राप्त हो रही है. कुछ व्यक्तियों ने अन्यत्र सेवा भी आरंभ कर दी है. पड़ोस के गोदवाड़ प्रांत से भी गऊएं आ रही हैं'*
-29 जुलाई, **1939** को दैनिक हिंदुस्तान में प्रकाशित समाचार [2]

3. *'इस देश में पैदा हुए नवधनिकों ने दूरदर्शन को अपने मनोरंजन और मुनाफा का माध्यम बना लिया है. जैसे फाइव स्टार होटलों का जूठा और बचा हुआ खाना भिखमंगों और भूखों में बंटता है, उसी तरह शहरी नवकुलीन वर्ग की जूठन आज देश के गांवों में 173 लो पावर ट्रांसमीटरों के जरिये परोसी जा रही है.'*
-1986 में कथाकार कमलेश्वर [3]

4. *'एक राष्ट्र में एक संविधान, एक भाषा एक राष्ट्रीय ध्वज तो एक राष्ट्रधर्म क्यों नहीं? एक राष्ट्र धर्म समय की मांग है.'*
-29 जुलाई, **2009** को दैनिक जागरण में प्रकाशित समाचार का अंश [4]

पहला उद्धरण उत्तर भारतीय पत्रकारिता के आरंभिक दौर का है, जबकि दूसरा स्वतंत्रता प्राप्ति से थोड़ा पहले का. तीसरे उद्धरण में कमलेश्वर ने भारत में दूरदर्शन की शरुआत के कुछ साल बाद आयी विकृतियों का जिक्र किया है. और चौथा उद्धरण आज का है – आज,

यानी 29 जुलाई, 2009; जिसकी ऊमस भरी सुबह मैं यह लेख लिख रहा हूं.
हिंदी पत्रकारिता के पिछले 150 सालों में क्या बदला है?
यहां हम इस अवधि के बीच आए वर्ष 1949 को याद कर सकते हैं – उस साल 26 नवंबर को हमने एक महान संविधान आत्मार्पित करते हुए खुद से कहा था :

'हम भारत के लोग, भारत को एक संपूर्ण प्रभुत्व संपन्न समाजवादी पंथनिरपेक्ष लोकतंत्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए, तथा उसके समस्त नागरिकों को : सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतंत्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए, दृढ़ संकल्प होकर.. इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं.' **5**

'समस्त नागरिकों' को विचार, अभिव्यक्ति और विश्वास की भी स्वतंत्रता! इन 60 सालों में यह स्वतंत्रता किन तबकों को उपलब्ध रही है? 1890 में भी तो यह स्वतंत्रता थी. उस समय सामाज सुधार का मतलब था – *ब्राह्मणों का नेतृत्व कायम करना.* आज कहा जा रहा है– *'एक राष्ट्र में एक संविधान, एक भाषा एक राष्ट्रीय ध्वज तो एक राष्ट्रधर्म क्यों नहीं?'* महज शब्द बदले हैं, साजिश वही पुरानी है. ब्राह्मण धर्म की पुनर्स्थापना.
विचार और अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सामाजिक आधार नहीं बदला है. भारत में द्विज हिंदू न सिर्फ पत्रकारिता के माध्यम से एक राष्ट्र-एक धर्म की जरूरत बता रहे हैं, बल्कि न्यायपालिका के माध्यम से भी वर्ण व्यवस्था को मजबूत करने वाली गीता को राष्ट्रीय धर्म शास्त्र माने जाने का उद्घोष कर रहे हैं.**6** यानी संविधान की रखवाली करने वाली दोनों संस्थाएं कमोवेश द्विज **'विचारों'** को **अभिव्यक्त** कर रहीं हैं.
क्या यह सिर्फ द्विजों की *अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता* का मामला है? मीडिया संस्थानों में द्विजों का कब्जा है, इसलिए वे अपनी सांस्कृतिक जरूरतों, आकांक्षाओं को अनायास अधिक स्पेस देते रहे हैं?
अगर सिर्फ ऐसा ही है तो **29 जुलाई, 1939 के दूसरे उद्धरण में** अखबार अपना आशय व्यक्त के लिए छल का सहारा लेता क्यों दिखता है? गायों को पानी न मिलने पर कोई कुंए में तो नहीं ही कूदेगा. 'खबर' गोरक्षा आंदोलन के पक्ष में हवा बनाने के लिए लिखी गयी है. यह उसकी अगली पंक्तियों से भी साफ हो जाता है. गोरक्षा आंदोलन द्विज हिंदुओं के सांस्कृतिक-राजनीतिक प्रभुत्व का आंदोलन था.
ध्यान इस पर दिया जाना चाहिए कि इस छल में आलंबन 'किसान' को क्यों बनाया गया है. सामान्य तौर पर इस काल्पनिक खबर में कोई ब्राह्मण गौ-व्यथा में कुंए में कूद पड़ता तो ज्यादा

तर्कसंगत होता. इससे ब्राह्मण जाति का गौरव बढ़ता. लेकिन इस समाचार का उद्देश्य इससे अधिक दूरगामी है. इसे *किसान,* जो मुख्यतः गैर-द्विज, पिछड़ी जातियों का समूह रहा है, को निशाने पर रखकर लिखा गया है. उद्देश्य है किसान जातियों का द्विज-हितों के पक्ष में मानसिक अनुकूलन. यह अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का छलपूर्ण नमूना भर नहीं है बल्कि द्विजों के सांस्कृतिक-राजनीतिक प्रभुत्व के लिए भारतीय पत्रकारिता द्वारा चलायी जाने वाली अनवरत कवायद का हिस्सा है. कहने की जरूरत नहीं कि कवायद आज भी जारी है. समाचार माध्यम वंचित तबकों की सामाजिक-राजनीतिक सक्रियताओं को दिग्भ्रमित करने, इनके नायकों को श्रीहीन करने, इनके पक्ष में जाने वाले तथ्यों को अंडरप्ले करने और द्विज प्रभुत्व को चुनौती देने वाले तर्कों को डायल्यूट करने की मुहिम में जुटे हैं.

तो; क्या बदला है? वास्तव में यही वह सवाल है, जिसे हमें भारतीय पत्रकारिता पर चर्चा के आरंभ में पूछना चाहिए. क्या पत्रकारिता आजादी के बाद पतित हुई है? क्या पत्रकारिता ज्ञान की सत्ता का ही एक हिस्सा नहीं, जिसके चारों ओर द्विजों ने चारदिवारियां खींच रखी थीं और जिसका दुरुपयोग वे 1947 के बहुत पहले से और उसके बाद भी अपनी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक सत्ता को बचाए रखने, पुनर्स्थापित करने के लिए करते रहे हैं?

बदलाव भारतीय प्रेस की मानसिकता में नहीं, तकनीक में हुआ है. यह दुनिया के पहले अखबार के प्रकाशन का 400 वां साल है. जर्मनी में सामान्य अभिरुचि का पहला अखबार 'अविका रिलेशंस ओडर जोइतुंग' 1609 में शुरू हुआ था. इसके लगभग 200 साल बाद भारत में अखबारों का छपना शुरू हुआ. संचार व्यवस्था की अद्यतन प्रौद्योगिकी के लिए भारत हमेशा यूरोप का मुखाक्षेपी रहा है. जबकि वहां 'दूसरे विश्वयुद्ध से लेकर आज तक प्रौद्योगिकी - खासकर संचार की प्रौद्योगिकी - की परिकल्पना और उसका विकास पूंजीवाद के हितों और उसकी विशेष जरूरतों से जुड़ा रहा है.'[7] ब्रिटिश चिंतक रेमंड विलियम्स ने भी तर्कपूर्ण ढंग से प्रमाणित किया है कि 'रेडियो और दूरदर्शन के प्रसारण का आरंभ और विकास बाजार द्वारा शासित विकास का अनिवार्य परिणाम है'. [8]

मीडिया के बाजारवाद के खतरे और दुष्परिणाम बहुआयामी हैं. नयी तकनीक ने कई मायनों में ब्राह्मणवाद के अस्त्र के प्रभाव को व्यापक बनाया है. लेकिन क्या कारण है कि इसके दुष्परिणामों में से सिर्फ एक - स्त्री शरीर के प्रदर्शन को ही चिन्हित किया जाता है? वस्तुतः यही वह दुष्परिणाम है, जिससे सबसे ज्यादा भारत का सामंती समाज प्रभावित हुआ है. अन्यथा इस बाजारवाद ने अनेक प्रकार की मनोरंजन-विधियों, जो सिर्फ धनिकों तक सीमित थीं, की पहुंच बहुसंख्यक लोगों तक संभव कर दी है. निश्चित तौर पर यह छलावा पिछड़ी और दलित जातियों का ध्यान मूल मुद्दों से भटकाता है, उन्हें यथास्थिति के लिए अनुकूलित करता है और उनकी संघर्ष चेतना को कुंद कर उन्हें अराजनैतिक बनाए रखने की साजिश में शामिल रहता है. वह इन तबकों में

परिवर्तनकामी बौद्धिक विकास को बाधित करता है तथा इनके नायकों की पहचान को धुंधला कर डालता है. किंतु, ये बातें इस देश में *बाजारवाद के खतरे और दुष्परिणामों पर विमर्श* का हिस्सा नहीं बनतीं.

यूरोपीय बाजार द्वारा शासित मास-मीडिया की तकनीक 'बाजारवाद' के साथ 1990 में भारत पहुंची थी. उसी साल पहली बार विदेशी समाचार चैनल सीएनएन ने कदम रखा. 1991 में यहां दुनिया के सबसे विशाल टीवी नेटवर्कों में से एक स्टार टीवी की शुरुआत हुई. उसके बाद से देशी-विदेशी निजी टेलीविजन केबल नेटवर्कों का जाल फैलता गया.

माना जाता है कि इन परिवर्तनों के कारण 1990 के बाद से भारत के मीडिया का चरित्र बदलने लगा. यह सच है कि भारत की द्विज पत्रकारिता 1990 के बाद से बाजार का आदेश अधिक से अधिक मानने के लिए उत्तरोत्तर मजबूर होती गयी है. लेकिन इससे पहले भारतीय अखबार और सरकारी 'दूरदर्शन' किनके हितों के लिए काम कर रहे थे? इसका उत्तर इस लेख के आरंभ में दिये गये **तीसरे उद्धरण** से मिल सकता है. कमलेश्वर का यह लेख ('दूरर्शन की भूमिका') *रविवार* के 7-13 दिसंबर, 1986 अंक में प्रकाशित हुआ था. यही नहीं कि यह लेख 1990 के चार साल पहले छपा था बल्कि जाहिर तौर पर, इसमें वर्णित दूरदर्शन के 'पतित' होने की घटना उससे काफी पहले की है. कमलेश्वर दूरदर्शन की शुरुआत (1959) के समय से ही *प्रथम स्क्रिप्ट राइटर* के तौर पर उससे जुड़े थे और बाद में एडीशनल डायरेक्टर जनरल तक बने. कमलेश्वर बताते हैं कि भारत में दूरदर्शन का उद्घाटन करते हुए प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने इसके लक्ष्यों को एकदम स्पष्ट रखा था. नेहरू ने कहा था कि भारत जैसे देश में दूरदर्शन की उपयोगिता के सामाजिक लक्ष्य तय करने होंगे, तभी इस पर होने वाले खर्च को 'सामाजिक आमदनी' के रूप में प्राप्त किया जा सकेगा. उन्होंने दूरदर्शन का लक्ष्य 'सामाजिक परिवर्तन' लाने वाले माध्यम के रूप में तय किया था. इसे देश में सामाजिक, आर्थिक और वैज्ञानिक परिवर्तनों के लिए जमीन तैयार करनी थी. इसके जरिए पुरातन और विषमता पीड़ित देश की मानसिक, वैचारिक और सामाजिक गरीबी मिटायी जानी थी. सदियों के पागलखाने से उन तंदरुस्त लोगों को बाहर निकाला जाना था, जो स्वस्थ थे, पर पागलों का पथ्य खाते-खाते खुद पागल होते जा रहे थे.[9] लेकिन नेहरू द्वारा तय किये गये इन लक्ष्यों का क्या हश्र हुआ? प्रारंभिक दिनों में नेहरू के लक्ष्यों के अनुसार 'नई मानसिकता के निर्माण का काम दूरदर्शन ने शुरू किया'. लेकिन यह सब ज्यादा समय तक नहीं चल सका. कुछ ही समय बाद दूरदर्शन '75 प्रतिशत गरीबों को 5 प्रतिशत शहराती कुलीनों की सांस्कृतिक जूठन खाने के लिए मजबूर' करने लगा. 'सदियों की सभ्यता और संस्कृति का वह सफर जो इस देश में भयानक विषमताओं को जन्म देकर भी सही दिशा की ओर जाने के लिए प्रतिबद्ध और तत्पर हुआ था, वह सफर

और उसकी दिशा ही बदल' दी गयी. और यह सब हुआ 1990 से बहुत पहले. उस समय बहुराष्ट्रीय मीडिया हाउस नहीं थे. तो फिर किन ताकतों की रुचि इसमें थी कि दूरदर्शन 'सामाजिक परिवर्तन' का माध्यम न बन सके? कमलेश्वर कहते हैं कि वे 'इसी देश में पैदा हुए नवधनिक' थे.[10]

अपवादों से इंकार न करने के बावजूद वस्तुनिष्ठ तथ्य यह है कि भारतीय मीडिया के चरित्र में बदलाव को चिन्हित करने के लिए 1947 या 1990 आदि को पैमाना नहीं बनाया जा सकता. जैसा कि मैंने पहले कहा 1990 में परिवर्तन उसके मूल चरित्र में नहीं, प्रौद्योगिकी में आया था. पत्रकारिता आरंभ से ही द्विजों के कब्जे में रही है. भारत के इस पारंपरिक प्रभुवर्ग ने हर दौर में अपने हितों के लिए इस अस्त्र का इस्तेमाल किया है. स्थितियां आज भी बदली नहीं हैं.

संदर्भ व टिप्पणियां

1. प्रतापनारायण मिश्र ग्रंथावली, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी. प्रताप नारायण मिश्र आधुनिक हिंदी के निर्माताओं की वृहत्त्रयी (भारतेंदु, बालकृष्ण भट्ट, प्रताप नारायण मिश्र) में से एक थे. उन्होंने ब्राह्मण पत्र का प्रकाशन 15 मार्च, 1883 ई. में प्रारंभ किया था. सन् 1894 ई. तक यह प्रकाशित हुआ. बीच में कुछ दिनों के लिए मिश्र कालाकांकर से प्रकाशित होनेवाले 'हिंदुस्तान' में संपादक होकर चले गये थे.ब्राह्मण और हिंदी प्रदीप (सं. बालकृष्ण भट्ट) उस युग की के प्रमुख पत्र थे जो उग्र राजनीतिक धारा के लिए जाने जाते थे, हिंदी साहित्य कोश, ज्ञानमंडल

2. पुनर्प्रकाशित, दैनिक हिंदुस्तान, *29* जुलाई,2009.

3. कमलेश्वर, 'दूरदर्शन की भूमिका'. *रविवार,* 7-13 दिसंबर,1986.

4. दैनिक जागरण, पटना संस्करण में प्रकाशित समाचार 'एक राष्ट्रधर्म घोषित करे सरकार', 29 जुलाई, 2009.

5. भारतीय संविधान की उद्देशिका

6. इलाहाबाद उच्च न्यायालय के न्यायाधीश एस. एन श्रीवास्तव ने 30 अगस्त, 2007 को दिये एक फैसले में गीता को राष्ट्रीय धर्मशास्त्र घोषित करने को कहा है. इस फैसले से संबंधित षड्यंत्र का अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि इसके महज चार दिन बाद 4 सितंबर,07 को श्रीवास्तव का सेवा काल समाप्त हो रहा था. इतना ही नहीं, मीडिया में यह खबर उनकी सेवानिवृत्ति के 7 दिन बाद 11 सितंबर,2007 को अचानक जोर-शोर से उछाली गयी. 12 सितंबर,2007 को विश्व हिंदू परिषद ने सेतु समुद्रम परियोजना के विरोध में भारत बंद का आह्वान किया था. इस तरह, यह खबर अपना अपेक्षित प्रभाव छोड़ने में भी सफल रही और भारत बंद के हो-हंगामे के कारण इसे गैर-ब्राह्मण तबके की ओर से कोई चुनौती भी नहीं मिल सकी. सेवानिवृत्ति के कारण न्यायाधीश श्रीवास्तव के खिलाफ कोई वाद भी नहीं लाया जा सका. देखें - प्रमोद रंजन, ब्राह्मणवाद की पुनर्स्थापना का षड्यंत्र, जनविकल्प, (संपादक : प्रेमकुमार मणि/ प्रमोद रंजन), अक्टूबर, *07*

7. हरबर्ट आई. शिलर, संचार माध्यम और सांस्कृतिक वर्चस्व, ग्रंथ शिल्पी, पृष्ठ 65

8. वही, रेमंड विलियम्स का उद्धरण. ग्रंथ शिल्पी, पृष्ठ 61

9. कमलेश्वर, 'दूरदर्शन की भूमिका'. *रविवार,* 7-13 दिसंबर,1986.

10. वही.

चयन के विकल्प पर ताला

हालत यह है कि किसी एक की बात तो छोड़िए, हिंदी के कुल ज़मा जो १०.१२ प्रमुख दैनिक हैं, उनमें कोई मौलिक अंतर आप नहीं तलाश सकते. सभी के सभी एक-दूसरे की प्रतिकृति लगते हैं. पाठक के लिए इन अखबारों में से अपनी रुचि के अनुरूप किसी एक के चयन का विकल्प नहीं है.

कोई भी अखबार उठा लें, एक सी ही सामग्री सभी में मिलेगी. वही चटखारेदार अंतिम रंगीन पृष्ठ. ग्लोब या बाजार के किसी बासी प्रतीक-चिन्ह के नीचे एक पन्ने पर कथित 'अर्थ जगत' की खबरें. देश-विदेश के विरोधाभासी शब्द युग्म के अंतर्गत, जो कुछ सहजता से उपलब्ध हो उसी से काम चलाती सूचनाएं. यदि आप क्रिकेट में रुचि नहीं रखते तो खेल पृष्ठ पर नजर डालना व्यर्थ लगेगा. यदि विचार क्षेत्र की अद्यतन गतिविधियां जानना चाहते हों तो इसमें संपादकीय पृष्ठ कोई मदद नहीं कर पाएगा. इस पन्ने पर सभी अखबारों ने मानो कुछ पत्रकारनुमा साहित्यकारों की सामयिक टिप्पणियों के अतिरिक्त अन्य सभी अनुशासनों के लिए प्रतिबंध ही लगा रखा है.

हर अखबार स्वयं को 'दोनों पक्षों' (वह लाश और हत्यारे दोनों की हिमायत करना चाहता है) की आवाज कहना पसंद करता है. शायद इसलिए जब पिछले दिनों संपादकों-मालिकों को अपने अखबारी पन्नों पर धर्म निरपेक्षता की आवाज अधिक ऊंची होती दिखी तो उन्होंने दीनानाथ मिश्र, भानुप्रताप शुक्ल सरीखे अनेक सांप्रदायिकों को 'स्वतंत्र टिप्पणीकार' बनाकर पेश करना आरंभ कर दिया. काश हिंदी अखबारों के नीति-निर्धारकों को प्रतिपक्ष बन सकने के लिए अनिवार्य तर्कों की समझ होती! इसी तरह सभी अखबारों के पहले पन्ने की प्रायः सभी खबरें एक ही प्रकार की होती हैं. ऐसा अखबारों का अपना कोई मूलभूत सरोकार, सतह के नीचे निरंतर गतिमान रहने वाले किसी मूल सिद्धांत के न होने के कारण होता है.

नक्सलवाद, आतंकवाद और अपराध के फर्क को कोई अखबार चिह्नित नहीं करता. न ही वह

चारू मजूमदार, प्रभाकरन और बबलू श्रीवास्तव जैसे व्यक्तियों के मौलिक अंतर को अपने पाठकों के समक्ष रखता है. उनकी नजर में उदय प्रकाश, बरबर राव के साथ-साथ अटल बिहारी वाजपेयी और बबलू श्रीवास्तव भी कवि हैं. पाकिस्तान की ओर अनवरत आंखें तरेरे रहना और अमेरिका से पुत्रवत नाराजगी तो खैर इनका पुराना शगल है ही. यह प्रवृत्तियां भी बताती हैं कि पत्रकारिता सत्ता के वर्चस्ववादी तर्क से इतर सोचने में समर्थ नहीं हो सकी है.

एक क्षेत्र में प्रसार वाले अखबारों में एक-दूसरे की तरह दिखने-बनने की अनवरत होड़ रहती है. सामान्य समाचार पृष्ठों पर भी ध्यान इस बात पर नहीं होता कि समाज और राजनीति में घटित हो रहे किन परिवर्तनों को स्थान मिलना चाहिए या कौन-कौन से पक्ष अभी भी अंधेरे में हैं. वे अपने प्रतियोगी पत्रों से अंधी प्रतिस्पर्धा में संलग्न रहते हुए सिर्फ इस बात पर जोर देते हैं कि दूसरे अखबारों में छपने वाली कोई खबर छूट न जाए. इसके स्वाभाविक परिणामस्वरूप वे एक-दूसरे की अनुकृति बनते चले जाते हैं और पाठकों के लिए अपनी रुचि के अनुसार चयन करने के सभी विकल्प बंद कर देते हैं. वे सिर्फ यह देखते हैं कि प्रस्तुत की गयी सामग्री में क्या अधिक पढ़ा जा रहा है. उन्हें यह ध्यान रखने की जरूरत महसूस नहीं होती कि नये पाठक क्या पढ़ना चाहते हैं. जबकि हिंदी अखबारों के पाठकों में अधिकांश दलित-पिछड़े तबके के नव शिक्षित परिवार हैं. इनकी बौद्धिक, सूचनागत जरूरतें द्विज पाठकों से कुछ अलग भी हैं.

खबरों के अतिरिक्त पठनीयता बढ़ाने और विविधता बनाए रखने के नाम पर निकले जाने वाले परिशिष्टों के विषय भी सभी अखबारों में एक से ही हैं. महिला, बच्चे, कैरियर, फिल्म और अध्यात्म. इसके अतिरिक्त एकाध परिशिष्ट रंग, विविधा, लाइफ आदि शब्दों के गठजोड़ से उद्भूत किसी रंगारंग चमकीले नाम से भी होता है, जिसमें वस्तुतः इन्हीं ५.६ विषयों की मिली जुली खिचड़ी परोसी जाती है. गोया समाज इतना चिंताविहीन हो गया है कि अब विषय ही नहीं बचे हों. या हिंदी पट्टी के महिला-पुरुषों ने यह घोषित कर दिया हो कि अब वे बुनाई-कढ़ाई करने, जायकेदार खाना बनाने-खाने, फिल्मी चटखारे लेने, जूते-कपड़े खरीदने, सास या पत्नी से सरस संबंध बनाने, प्रभु में मन रमाने अथवा किसी सनकी के गिनीज बुक ऑफ वर्ल्ड रिकार्डनुमा कारनामों का हिसाब रखने के अलावा न कुछ करेंगे न सोचेंगे. न ही पढ़ेंगे-जानेंगे. हिंदी अखबरों की यह प्रवृत्ति पाठकों के समक्ष सामाजिक यथार्थ की विकृत तस्वीर प्रस्तुत कर सिर्फ उन्हें भ्रमित ही नहीं करती बल्कि ऐसा कर अखबार पाठक संख्या की प्रतिद्वंद्विता की दूरगामी दौड़ में अपनी सीमा रेखा भी बनाते चलते हैं. यह भी समझने की बात है कि अखबार के प्रबंधक जिसे 'आम पाठक' की संज्ञा देते हुए निम्न रुचि का समझते हैं, वह साल-छः महीने अखबार लेकर बंद क्यों करवा देता है? आबादी का आधा हिस्सा, महिलाओं की रुचि परिशिष्टों के तमाम टोटकों के बावजूद, अखबारों में क्यों नहीं विकसित हो पाई? या ५२ प्रतिशत युवाओं की आबादी वाले इस देश के अखबारों के पास युवाओं के लिए

इधर-उधर से उड़ाए गए माल से निकाले गए कैरियर परिशिष्ट और सस्ते फिल्मी गॉसिप के अलावा भी कुछ है?

अखबारों में चयन के विकल्पों के सीमित होते जाने के पीछे हिंदी पत्रकारिता में कम वेतन होने के कारण इस क्षेत्र में रचनात्मक (तकनीकी व लेखन-विचार क्षेत्र, दोनों के) लोगों का न आना तो है ही, इसके लिए पत्रकारिता में कार्यरत लोगों की सामाजिक पृष्ठभूमि की एकरसता भी कम जिम्मेवार नहीं है. विभिन्न सामाजिक-समूहों से आए लोगों की अनुभवजन्य रचनात्मकता से पत्रकारिता स्वयं को अधिक संपन्न बना सकती थी. इसके विपरीत एक सी सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि वाले लोगों की उपस्थिति ने इसके स्वरूप को निहायत एकांगी बना दिया है. इसके अतिरिक्त कतिपय अन्य परोक्ष कारण भी इस दिशा में लगातार सक्रिय रहते हैं. उन पर चर्चा फिर कभी. फिलहाल यह शेर देखें :

छइयां-छइयां, चुल्लू-चुल्लू पानी पी, दिल का दरिया पार करेगा, चल झूठे
आंसू दरिया, आंखें कश्ती मान लिए, पलकों को पतवार करेगा, चल झूठे.

पत्रकारिता का चोली दामन

पत्रकारिता और राजनीति में चोली-दामन का संबंध है. ऐसा बिहार के मौजूदा मुख्यमंत्री मानते हैं. पिछले दिनों उन्होंने एक विज्ञापन एजेंसी द्वारा आयोजित समारोह में यह बात दोहराई. बिहारी पत्रकारिता उनसे सहमत हैं. सुशासन ने पत्रकारिता का भी विकास कर दिया है.

बिहार की पत्रकारिता वर्ष 2005 में एनडीए सरकार बनते ही अचानक 'विकसित' हो गयी. लालू-राबड़ी सरकार के साथ उसका रिश्ता द्वंद्वात्मक था. चारा घोटाला मामले में नहीं दबने की उपलब्धियां उसके पास थीं. पत्रकारिता सत्ता से लड़ती-भिड़ती दिखाई देती थी और निष्पक्षता से देखने वालों को यह अच्छा लगता था. कम से कम यह आभास तो होता ही था कि वह सरकार की चोली नहीं बन रही है.

एनडीए राज में सरकार और अखबार एकमेक हैं. कोई द्वंद्व नहीं. पूरी समरसता है, जो सरकार का विचार, वही अखबार का भी. बदलाव की प्रक्रिया में बिहारी पत्रकारिता अपनी चोली ही नहीं, दामन भी सरकार को पहना चुकी है.

आज बिहारी पत्रकारिता का परिदृश्य खुला हमाम है. सरकार में शामिल सामंती ताकतें इस अश्लीलता का चटखारा ले रही हैं जबकि जनांदोलनों, सामाजिक कार्यकर्ताओं और विपक्षी पार्टियों के हिस्से में उसकी नंगई आयी है. जितनी धूर्तता से सरकारी उपलब्धियों का ढोल पीटा जा रहा है, उससे कहीं अधिक चालाकी से विरोध की आवाजें सेंसर की जा रही हैं. हर खबर में यह ध्यान रखा जा रहा है कि कहीं मौजूदा सरकार को राजनीतिक नुकसान न हो जाए. पिछले चार सालों में ऐसी एक भी खबर बिहार के अखबारों ने नहीं छपने दी है. लोकतंत्र के मूलाधार विरोध प्रदर्शनों को मुख्यमंत्री *गुंडागर्दी* कहते हैं तो अखबार *सुशासन और विकास के अवरोधक*.

'प्रभात खबर' बिहार में कम प्रसार संख्या वाला बुद्धिजीवियों का अखबार रहा है. कम प्रसार के कारण इस अखबार को अन्य अखबारों की तुलना में विज्ञापन कम मिलते थे. मौजूदा

मुख्यमंत्री ने पिछले एक साल में इसके विज्ञापन में लगभग तिगुना बढ़ोतरी कर दी है. साथ ही पिछले दिनों इसकी संपादकीय टीम में बड़े पैमाने पर बदलाव हुए हैं. *(मौजूदा टीम की सामाजिक पृष्ठभूमि की एकरसता सन्न कर देने वाली है. देखें तालिका-8, पृष्ठ-34)*.नतीजा?

'नीतीश सरकार के नेतृत्व में बिहार बड़े बदलाव के दौर से गुजर रहा है. वर्ल्ड बैंक ने पटना को बिजनेस के लिए देश की आर्थिक राजधानी मुंबई से बेहतर माना है. पिछले तीन सालों में बिहार की आर्थिक विकास दर 10.5 फीसदी हो गयी है. हम बिहार को विकसित बनाना चाहते हैं, तो हमें उद्यमी बनना होगा. सूबे में उद्यमिता का माहौल बनाने की दिशा में एक मामूली कोशिश है प्रभात खबर के स्थापना दिवस पर प्रकाशित यह विशेषांक.' (-स्थानीय संपादक 11 जुलाई,2009)

यह अखबार के स्थापना दिवस विशेषांक के मुख पृष्ठ पर प्रकाशित संपादकीय है. यह विशेषांक प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सरकार द्वारा प्रायोजित नहीं है बल्कि अखबार का अपना आयोजन है. इन सालाना मेगा विशेषांकों को यह अखबार वैचारिक पत्रकारिता के प्रति अपनी प्रतिबद्धता के तौर पर प्रचारित करता रहा है.

इस संपादकीय की भाषा (इस तरह की पत्रकारिता में तथ्यों के विश्लेषण आदि की बात सोचना तो आकाश कुसुम तलाशने जैसा है) देखें. इसकी अश्लीलता इतनी साफ है कि इस पर बात करना प्रबुद्ध पाठकों में कोफ्त पैदा करेगा. उन्हें, जो अखबारों की दुनिया को नजदीक से नहीं जानते हैं, इतना सुझाव देना काफी होगा कि वे इस उद्धरण को विखंडित करें - ***'नीतीश सरकार** के बड़े बदलाव'* और *'हम (अर्थात् अखबार) बिहार को विकसित करना चाहते हैं'* - पर गौर करते हुए इसे फिर से पढ़ें. सरकार और अखबार के बीच कोई क्षीण सीमा रेखा भी नजर आती है?

उद्यमिता पर केंद्रित इस विशेषांक में उद्यमियों के साक्षात्कार और विशेषज्ञों के लेख हैं. बिना अपवाद के सभी साक्षात्कार, लेख सरकार की तारीफ वाले हैं. इसमें एक 'खबर' भी छापी गयी है. शीर्षक है; *'औद्योगिक मानचित्र पर छा जायेगा बिहार'* :-

'बिहार विकास की राह पर अग्रसर है, देश के औद्योगिक मानचित्र पर राज्य को स्थापित करने की तैयारी सूबे की सरकार ने कर ली है. सूबे की सरकार ने उद्योग के लिए अनुकूल वातावरण तैयार किया है और नयी नीतियां बनायी हैं. इस कारण उद्यमी बिहार की ओर अकर्षित हो रहे हैं. नामी-गिरामी उद्योग घरानों से औद्योगिक निवेश के लिए 92 हजार

करोड़ रुपये का प्रस्ताव आया है. मगर इनमें से अधिकांश योजनाओं को केंद्र की नीतियों में बदलाव का इंतजार है. भारी संख्या में आये निवेश के प्रस्ताव को राज्य सरकार के करीब चार वर्षों के शासनकाल में आये बदलाव के रिजल्ट के रूप में देखा जा रहा है'.

क्या यह *पत्रकारिता* की भाषा है? अगर नहीं, तो अखबार किसकी भाषा बोल रहा है? सिर्फ यही नहीं कि वह सरकार की भाषा बोल रहा है बल्कि इस भाषा का छल अद्भुत है. 'खबर' सामान्य तौर पर बताती लगती है कि बिहार का तेजी से औद्योगिकरण हो रहा है. निवेशकों का तांता लगा है. और यह सरकार की महत्वपूर्ण उपलब्धि है. बस केंद्र सरकार अड़ंगा लगा रही है. यही बताती है न यह कथित खबर? जी नहीं! खबर बेहद चतुराई से यह कह कर निकल जाती है कि 92 हजार करोड़ रुपये के निवेश का 'प्रस्ताव' है. निवेश हुआ नहीं है. वास्तव में सरकार अखबारों के माध्यम से पिछले तीन साल से यह प्रोपोगैंडा कर रही है. हर अखबार दर्जनों बार यह खबर छाप चुका है. हकीकत यह है कि राज्य में इन तीन सालों में महज 8 हजार करोड़ रुपये का निवेश हुआ है. वह भी अधिकांश स्थानीय धंधेबाजों द्वारा. कोई 'नामी-गिरामी' उद्योग अब तक नहीं लगा है. विशाल व्यापारिक घरानों व बहुराष्ट्रीय कंपनियों के गिद्ध ताजा मांस की आशा में बिहार के आकाश में मंडरा कर लौट चुके हैं. वे राजग सरकार के गुड गवर्नेंस के और फलीभूत होने का इंतजार कर रहे हैं. पिछले दिनों मुख्यमंत्री को भी यह तथ्य स्वीकार करना पड़ा है कि बाहरी पूंजीपति बिहार में रुचि नहीं ले रहे हैं. तीन सालों तक राज्य में बड़े पैमाने पर हो रहे पूंजी निवेश का दावा करने वाली सरकार के लिए यह शर्मनाक है. लेकिन अखबार क्यों बाज आएं.

जाहिर है यह सिर्फ बानगी है. वह भी, प्रगतिशील माने जाने वाले अखबार द्वारा प्रतिबद्ध वैचारिक पत्रकारिता के पैमाने के रूप में घोषित विशेषांक से. वस्तुतः इस तरह की खबरों से बिहार के अखबार पट गये हैं. पालतू पत्रकारों की एक पूरी पलटन है, जो हरदम मुख्यमंत्री को अपना चेहरा दिखाने की होड़ में रहती है. खबरें सीधे मुख्यमंत्री आवास से प्लांट की जाती हैं. इलैक्ट्रॉनिक चैनल भी इसमें पीछे नहीं हैं. स्थिति का अनुमान इससे भी लगाया जा सकता है कि मुख्यमंत्री की मौजूदगी में उनके कक्ष में पत्रकार न सिर्फ आपस में उलझते रहते हैं बल्कि गाली-गलौच, हाथपाई, मारपीट पर भी उतर जाते हैं.

यशपाल की कहानी ***फूलो का कुर्ता*** याद है? गली में खेल रही छोटी सी बच्ची फूलो अपने दूल्हे को आता देख से लजाकर फ्रॉक उठाकर अपना मुंह ढंक लेती है. बिहारी पत्रकारिता ने जनता की आंखें ढ़ंकने के लिए अपना फ्रॉक उठा लिया ताकि उसके दूल्हे को नजर न लगे. फर्क यह भी है कि यहां फूलो की मासूमियत नहीं, कुत्सित छल है.

इस पालतूपन के बावजूद (कारण) एनडीए सरकार मीडिया संस्थानों के साथ तानाशाह सा व्यवहार करती रही है. पिछले चार सालों में सभी अखबारों को एकाधिक बार सरकारी विज्ञापन (बिहार में 70 फीसदी विज्ञापन सरकारी क्षेत्र के होते हैं, कम क्रय शक्ति के कारण निजी कंपनियां बिहार के नाम बहुत कम विज्ञापन जारी करती हैं) पर रोक में झेलनी पड़ी है. अगस्त, 2008 में कोसी नदी में आयी बाढ़ - जिसने सरकारी आकड़ों के अनुसार 35 लाख लोगों को बेघर कर दिया था - के दौरान दो बड़े हिंदी समाचार पत्रों और एक समाचार चैनल का विज्ञापन सिर्फ इसलिए रोक दिया गया था कि वे 'ह्यूमन ऐंगिल' की खबर कुछ ज्यादा चला रहे थे. प्रदेश के विभिन्न जिलों में पत्रकारों की हत्या और उत्पीड़न की घटनाएं भी बढ़ी हैं. राजधानी पटना तक में कभी जूनियर डॉक्टरों, कभी स्थानीय गुंडों तो कभी पुलिस ने पत्रकारों को दौड़ा-दौड़ा कर पीटा है.

तो; इस तानाशाही और इस पालतूपन का आपसी संबंध क्या है? क्या एनडीए सरकार ने मीडिया को भयभीत कर अपने पक्ष में किया है? या यह एक स्वाभाविक गठजोड़ है, जो किसी भी कीमत पर बिहार से गैरकांग्रेसवाद की राजनीति को विस्थापित करने की कवायद में जुटा है? बिहार की पत्रकारिता से गुजरते हुए ऐसे दर्जनों सवालों का जवाब आप स्वयं तलाशें.

तालिका - 5

दैनिक जागरण का संपादकीय विभाग

बॉक्स में दर्शाये गये पहले पांच पदों को फैसला लेने वाला माना गया है.

पद	पु./म.	धर्म	जाति
1. स्थानीय संपादक	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
2. समाचार संपादक	पुरुष	हिंदू	भूमिहार
3. प्रोविंस डेस्क इंचार्ज	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
4. ब्यूरो प्रमुख	पुरुष	हिंदू	राजपूत
5. वरीय उपसंपादक	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
6. मुख्य संवाददाता	पुरुष	हिंदू	भूमिहार
7. ब्यूरो संवाददाता	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
8. ब्यूरो संवाददाता	पुरुष	हिंदू	राजपूत
9. ब्यूरो संवाददाता	पुरुष	हिंदू	राजपूत
10.ब्यूरो संवाददाता	पुरुष	इस्लाम	सैयद
11.ब्यूरो संवाददाता	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
12. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	भूमिहार
13. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	अति पिछड़ा
14. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
15. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	भूमिहार
16. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
17. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
18. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	भूमिहार
19. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	राजपूत
20. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	राजपूत

(संबंधित जानकारियां परोक्ष रूप से हासिल की गयी हैं, त्रुटि संभव है)

तालिका - 6

राष्ट्रीय सहारा का संपादकीय विभाग

बॉक्स में दर्शाये गये पहले पांच पदों को फैसला लेने वाला माना गया है.

पद	पु./म.	धर्म	जाति
1. स्थानीय संपादक	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
2. समाचार संपादक	पुरुष	हिंदू	राजपूत
3. प्रोविंस डेस्क इंचार्ज	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
4. ब्यूरो प्रमुख	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
5. प्रमुख संवाददाता	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
6. वरिष्ठ संवाददाता	पुरुष	हिंदू	कायस्थ
7. वरिष्ठ संवाददाता	पुरुष	हिंदू	पिछड़ा
8. मुख्य उप संपादक	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
9. मुख्य उप संपादक	पुरुष	हिंदू	राजपूत
10. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
11. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	दलित
12. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	राजपूत
13. संवाददाता	महिला	हिंदू	कायस्थ
14. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	कायस्थ
15. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
16. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	राजपूत
17. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	पिछड़ा
18. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
19. कार्यालय संवाददाता	पुरुष	हिंदू	भूमिहार
20. कार्यालय संवाददाता	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण

(संबंधित जानकारियां परोक्ष रूप से हासिल की गयी हैं, त्रुटि संभव है)

तालिका - 7

हिंदुस्तान का संपादकीय विभाग

बॉक्स में दर्शाये गये पहले पांच पदों को फैसला लेने वाला माना गया है.

पद	पु./म.	धर्म	जाति
1. स्थानीय संपादक	पुरुष	हिंदू	कायस्थ
2. संपादक (परियोजना)	पुरुष	हिंदू	राजपूत
3. समाचार समन्वयक	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
4. ब्यूरो प्रमुख	पुरुष	हिंदू	राजपूत
5. प्रोविंस इंचार्ज	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
6. प्रधान संवाददाता	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
7. समन्वयक, वि. परियोजना	पुरुष	हिंदू	अति पिछड़ा
8. प्रधान कॉपीराइटर	पुरुष	हिंदू	पिछड़ा
9. विशेष संवाददाता	पुरुष	हिंदू	राजपूत
10. वरीय संवाददाता	पुरुष	हिंदू	कायस्थ
11. वरीय संवाददाता	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
12. वरीय कॉपी एडिटर	पुरुष	हिंदू	भूमिहार
13. वरीय संवाददाता	पुरुष	हिंदू	राजपूत
14. वरीय संवाददाता	पुरुष	हिंदू	भूमिहार
15. वरीय संवाददाता	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
16.वरीय संवाददाता	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
17. वरीय कॉपी एडिटर	पुरुष	हिंदू	राजपूत
18. कार्यालय संवाददाता	पुरुष	हिंदू	राजपूत
19. कार्यालय संवाददाता	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
20. अपराध संवाददाता	पुरुष	हिंदू	भूमिहार

(संबंधित जानकारियां परोक्ष रूप से हासिल की गयी हैं, त्रुटि संभव है)

तालिका - 8

प्रभात खबर का संपादकीय विभाग

बॉक्स में दर्शाये गये पहले पांच पदों को फैसला लेने वाला माना गया है.

पद	पु./म.	धर्म	जाति
1. प्रधान संपादक	पुरुष	हिंदू	राजपूत
2. कार्यकारी संपादक	पुरुष	हिंदू	राजपूत
3. स्थानीय संपादक	पुरुष	हिंदू	राजपूत
4. समाचार संपादक	पुरुष	हिंदू	राजपूत
5. प्रोविंस इंचार्ज	पुरुष	हिंदू	राजपूत
6. विशेष संवाददाता	पुरुष	हिंदू	राजपूत
7. ब्यूरो प्रमुख	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
8. मुख्य संवाददाता	पुरुष	हिंदू	कायस्थ
9. उप स. संपादक	पुरुष	हिंदू	राजपूत
10. उप स. संपादक	पुरुष	हिंदू	दलित
11. उप स. संपादक	पुरुष	हिंदू	कायस्थ
12. वरीय संवाददाता	पुरुष	हिंदू	राजपूत
13. वरीय संवाददाता	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
14. वरीय संवाददाता	पुरुष	हिंदू	ब्राह्मण
15. वरीय संवाददाता	पुरुष	हिंदू	पिछड़ा
16. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	राजपूत
17. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	भूमिहार
18.संवाददाता	पुरुष	हिंदू	भूमिहार
19. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	अति पिछड़ा
20. संवाददाता	पुरुष	हिंदू	राजपूत

(संबंधित जानकारियां परोक्ष रूप से हासिल की गयी हैं, त्रुटि संभव है)

राष्ट्रीय मीडिया का सर्वे : 2006

राष्ट्रीय मीडिया के प्रमुख पदों को लेकर वर्ष 2006 में मीडिया स्टडीज ग्रुप (दिल्ली) के **अनिल चमड़िया** (स्वतंत्र पत्रकार), **जितेंद्र कुमार** (स्वतंत्र शोधकर्ता) और सामाजिक विकास अध्ययन केंद्र (सीएसडीएस) के सीनियर फेलो **योगेंद्र यादव** द्वारा एक सर्वे किया गया था.

सर्वे में राष्ट्रीय मीडिया में समाचारों से संबंधित फैसले लेने वाले प्रमुख पदों पर स्थापित पत्रकारों की सामाजिक पृष्ठभूमि इस प्रकार पायी गयी थी :

- हिंदू उच्च जाति पुरुषों का राष्ट्रीय मीडिया पर वर्चस्व है. भारत की कुल आबादी में इनकी हिस्सेदारी 8 प्रतिशत है. लेकिन मीडिया संस्थानों में फैसला लेने वाले पदों का 71 प्रतिशत उनके हिस्से में आता है.
- राष्ट्रीय मीडिया में 17 प्रतिशत प्रमुख पदों पर महिलाएं हैं. महिलाओं की अपेक्षाकृत बेहतर स्थिति (32 प्रतिशत) अंग्रेजी इलैक्ट्रॉनिक मीडिया में है.

	हिंदू	मुसलमान	ईसाई	सिख
भारत की आबादी में हिस्सेदारी	81%	13%	2%	2%
प्रिंट हिंदी	97%	2%	0%	0%
प्रिंट अंग्रेजी	90%	3%	4%	0%
इलैक्ट्रॉनिक हिंदी	90%	6%	1%	0%
इलैक्ट्रॉनिक अंग्रेजी	85%	0%	13%	2%
कुल	90%	3%	4%	1%

- विभिन्न जातियों के प्रतिनिधित्व में असामनता है. द्विज हिंदुओं (द्विजों में ब्राह्मण, कायस्थ, राजपूत, वैश्य और खत्री को शामिल किया गया था) की जनसंख्या भारत में 16 प्रतिशत है, लेकिन मीडिया के प्रमुख पदों पर उनकी हिस्सेदारी 86 प्रतिशत है. केवल ब्राह्मण (इसके अंतर्गत भूमिहार और त्यागी भी शामिल किये गये थे) के हिस्से में 49 प्रतिशत प्रमुख पद हैं.
- दलित और आदिवासी फैसला लेने वाले पदों पर नहीं हैं. राष्ट्रीय मीडिया के *315* प्रमुख पदों पर एक भी दलित और आदिवासी नहीं है.

● राष्ट्रीय मीडिया के प्रमुख पदों पर अन्य पिछड़े वर्ग की हिस्सेदारी 4 प्रतिशत है. जबकि भारत में इनकी आबादी 43 प्रतिशत है.

● मुसलमान महज तीन प्रतिशत पदों पर हैं, जबकि देश की कुल जनसंख्या में इनका हिस्सा 13.4 प्रतिशत है.

	ब्राह्मण	कायस्थ	वैश्य /जैन	राजपूत	खत्री	गैर द्विज उच्च जाति	अन्य पिछड़ी जाति
प्रिंट हिंदी	59%	9%	11%	8%	5%	0%	8%
प्रिंट अंग्रेजी	44%	18%	5%	1%	17%	5%	1%
इलैक्ट्रॉनिक हिंदी	49%	13%	8%	14%	4%	0%	4%
इलैक्ट्रॉनिक अंग्रेजी	52%	13%	2%	4%	4%	4%	4%
कुल	49%	14%	7%	7%	9%	2%	4%

● ईसाइयों का औसत प्रतिनिधित्व है, लेकिन मुख्यतः अंग्रेजी मीडिया में. राष्ट्रीय मीडिया में 4 फीसदी पद उनके हिस्से में हैं. जबकि भारत की आबादी में उनका हिस्सा 2 प्रतिशत है.

	पुरुष	महिला
प्रिंट हिंदी	86%	14%
प्रिंट अंग्रेजी	84%	16%
इलैक्ट्रॉनिक हिंदी	89%	11%
इलैक्ट्रॉनिक अंग्रेजी	*68%*	*32%*
कुल	83%	17%

● राष्ट्रीय मीडिया में महिलाओं की भागीदारी *17* प्रतिशत है. अंग्रेजी मीडिया में अपेक्षाकृत महिलाओं की भागीदारी ठीक है. जबकि अंग्रेजी इलैकट्रॉनिक मीडिया में इनकी भागीदारी संतोषजनक है.

(मीडिया स्टडीज ग्रुप, सी-251, सेक्टर-19, रोहिणी, दिल्ली द्वारा प्रकाशित पुस्तिका 'चौथा खंभा' से साभार)

प्रज्ञा सामाजिक अध्ययन संस्थान
शिक्षक कॉलोनी, कुम्हरार, पटना-800026
E-mail : pramodrnjn@gmail.com
Blog : sanshyatma.blogspot.com

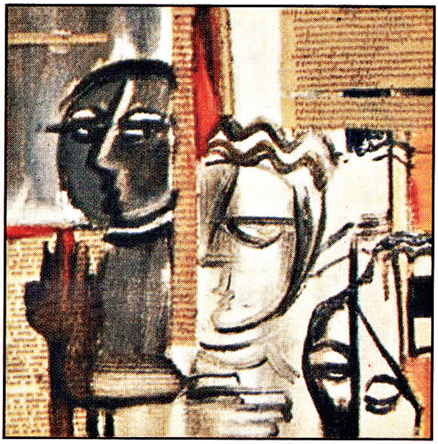

मीडिया में हिस्सेदारी

25 रुपये